मुद्रक—
शुभचिन्तक छापाखाना,
जबलपुर ।

प्रथम संस्करण, ५०० प्रतियाँ ।
दिसम्बर, १९१८.

पुस्तक मिलनेका पता—
रामप्रसाद मिश्र, बी. ए.,
दीक्षितपुरा, जबलपुर ।

जो रातदिन कठिन परिश्रम करके विद्याभ्यास
करते हैं, जिन्होंने आत्म-सुधार और देश-
सुधारका प्रण कर लिया है, जिनकी कर्म-
वीरता और वाणीके बलकी ओर भारत
की भावी उन्नतिका सर्वोच्च शिखर टक-
टकी लगाये है, और जिन सपूतोंके
प्रेममें विह्वल होकर भारत-माता
के स्तनोंका दूध टपक रहा है,
हिन्दी-माता शुभाशाएँ बाँध
रही है उन्हीं मेरे प्यारे नव-
युवक विद्यार्थियोंके प-
वित्र कर-कमलोंमें यह
पुस्तक—उनके आदर
की प्रिय वस्तु—

विविधा

निवेदन ।

बोलनेकी शक्ति अमूल्य है। जिसको बोलना नहीं आता उसका सब सीखा-पढ़ा व्यर्थ समझा जाता है। वाणीमें वह बल है जिससे सारा संसार वशमें हो सकता है। अमेरिकाके प्रसिद्ध वक्ता वेंडल फ़िलिप्स कहा करते थे-"मुझे समय दीजिये, बोलने दीजिये, मैं समस्त संसारको जीत लूँगा।" यह कथन बहुत सत्य है। "वक्ताकी धूलभी बिकजाती है।" वैसे तो सभी बोलते हैं; पर अर्थ इसका यह है कि उत्कृष्ट बोलना आना चाहिये। इसमें पूर्ण सफलता तभी हो सकती है, जब बचपनसे ही इसकी शिक्षा दीजावे। इसके प्रसिद्ध वक्ता विंर्टलियन ने अपनी पुस्तकमें लिखा है-"बालकको भविष्यत्में सुशिक्षित बनानेके लिये पहले उसकी वाणीका सुधार होना आवश्यक है और इस कामके लिये उसकी धायकी वाणी शुद्ध होनी चाहिये।" यही मत प्रो. पेरार लारीका भी है।

जब बचपनसे ही इस बातकी आवश्यकता है, तो साहित्यमें इस कलाको सिखानेवाली पुस्तकोंका होना नितान्त आवश्यक है। अङ्गरेज़ीमें इस विषयकी बहुतसी पुस्तकें हैं। मराठी, गुजराती आदि दूसरी देशी भाषाओं का साहित्य भी इससे बिलकुल शून्य नहीं है; पर राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अभीतक ऐसी पुस्तकोंका सर्वथा अभाव है। जिस

वक्तृत्वके बल पर सारा संसार चल रहा हो उसके विषयको तुच्छ गिनना और उसमें एक भी पुस्तकका न होना वास्तवमें बड़े कलंककी बात है। दूसरे, अब समय कह रहा है कि हमारे नवयुवक विद्यार्थी अच्छे वक्ता होकर देशका सुधार करें। पाठकोंको इस वक्तृत्व-कलाका संक्षिप्त इतिहास पढ़नेसे मालूम होगा कि रूस, ग्रीस, आदि यूरोपीय देशोंके वक्ताओं ने अपनी वक्तृत्व-शक्तिके बल पर कैसे कैसे विलक्षण काम किये और देशको किस तरह अपनी अँगुली पर नचाया। अपने उत्तम विचार फैलाने, लोक-मत संग्रह करने, व्यवहार चलाने और वृहत् जन-समुदायके सन्मुख स्वतंत्रतासे बोलने के लिये वक्तृत्व-कलाकी बहुत आवश्यकता है। लेखों और पुस्तकोंका इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना व्याख्यानों का पड़ता है। व्याख्यानोंको तत्काल कई हज़ार मनुष्य सुन लेते हैं। पर, सभामें खड़े होकर उत्तम प्रकारसे बोलना कोई हँसीखेल नहीं है। इसके लिये अभ्यास और वक्तृत्व-कलाके नियमोंके पालन करनेकी बड़ी आवश्यकता है। इसीके लिये यह पुस्तक लिखी गई है। पुस्तक कैसी हुई और इसमें मुझे कहाँतक सफलता मिली है यह कहनेका अधिकारी मैं नहीं हूँ। मुझसे जैसा कुछ बन पड़ा वैसा लिखकर हिन्दी-प्रेमियोंकी सेवामें उपस्थित हुआ हूँ। यदि यह पुस्तक हिन्दी-भाषा-भाषियों तथा हिन्दी-रसिक विद्यार्थियोंका कुछ भी हित कर सकी और साहित्यके - गर्भे कुछ भी प्रवेश कर सकी, तो मैं अपने परिश्रमको ……ूँगा।

पुस्तकके लिखनेमें मैंने जिन जिन पुस्तकोंसे

सहायता ली और जिन जिन लेखोंने मुझे उत्साहित किया उनके नाम मैं कृतज्ञता-पूर्वक प्रकट करता हूँ—

(१) श्रीयुत डा० शुक्र की 'वक्ता' नामक गुजराती पुस्तक।

(२) स्वर्गीय पं० विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकरका मराठी निबन्ध।

(३) श्रीयुत पं० भोगीलाल भीकमलाल की 'बुद्धिवर्द्धक-प्रयोग' नामक पुस्तक।

(४) बंग-भाषाके 'विजया', 'प्रवासी' और 'भारतवर्ष' मासिक पत्रोंके कोई कोई लेख।

(५) 'सम्मेलन-पत्रिका' और 'हितकारिणी' मासिक-पत्रिकाओंमें निकले एतद्विषयक लेख।

इनमेंसे 'वक्ता' नाम्नी गुजराती पुस्तकसे मैंने विशेष सहायता ली है; अतएव मैं इसके लेखक महाशयका विशेष आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय जितनी सामग्री मुझे मिली और जो २ विचार मेरे चित्तमें उदित हुये उन सबको मैं, पुस्तक बढ़जानेके भयसे, इसमें नहीं ला सका। यदि इस विषयके बृहत् ग्रन्थकी आवश्यकता समझी गई, तो मैं वैसा करनेका प्रयत्न करूँगा।

मैं अपने परम मित्र, "हितकारिणी" के उपसम्पादक पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र विशारदका विशेष आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणासे मैं इस पुस्तकको लिखनेमें समर्थ हुआ। आपने काग़ज़के इस दुर्भिक्षमें भी पुस्तकके छापनेका सब

भार आपने ऊपर लिया, पुस्तक देना और पुस्तकसे अगाध प्रेम दर्शाया। इसके लिये आपको अनेक धन्यवाद हैं।

झालावाड़-नरेश श्रीमन्महाराजाधिराज महाराज राणा सर श्रीभवानीसिंहजी बहादुर, के. सी. एस. आई., एम. आर. ए. एस., एम. आर. एस. ए. महोदयको मेरा सबसे अधिक, सर्वथ अन्तःकरण और भक्ति-भावसे सविनय धन्यवाद है जिनके राम-राज्यमें रहकर मैं अपना विशेष समय विद्याविलासमें आनन्दपूर्वक बिताता हूँ। ईश्वर आपको सकुटुम्ब चिरायु करे और आपके सब मनोरथ पूर्ण होते रहें।

श्रीमान् कोठारी हजारीलालजी साहब की सेवामें मैं आनन्दसे रहता हूँ। आप बहुत दयालु प्रकृतिके पुरुष हैं। अतः मैं आपको भी धन्यवाद देना कदापि नहीं भूल सकता।

जो महानुभाव मुझसे सदा प्रेम रखते हैं, मेरी उन्नति चाहते हैं, और मेरे इन कामोंमें प्रसन्न होकर मुझे सदा उत्साहित किया करते हैं उनको भी मैं सादर धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

झालरापाटन,
(राजपूताना),
१०—८—१९१८.

विनीत—
कृष्णगोपाल माथुर।

विषयानुक्रमणिका ।

विषय   पृष्ठ

पृष्ठ

	पृष्ठ
सभा-समाज ...	१७६
१ वादविवाद करनेकी सभाएँ ...	१७६
२ वादविवाद करने की सभाओंके नियम	१७७
३ अन्य प्रकार की सभाएँ ...	१७९
४ सभाओंके नियम ...	१७९
५ प्रबन्धकारिणी समितिके कार्यकर्त्ता .	१८०
६ कार्यकर्त्ताओंके काम और अधिकार ...	१८०
७ सभासद ...	१८२
८ यथेष्ट संख्या (कोरम) ...	१८३

मुझको न मुल्कसे है न ज़रो मालसे ग़रज़ ।
रखता नहीं मैं दुनियाँके अश्ग़ालसे ग़रज़ ॥
है इल्तजा यही कि करम तू अगर करे ।
वह बात दे ज़ुबाँमें कि दिल पर असर करे ॥

—प्रोफेसर आज़ाद ।

वक्तृत्व-कला।

(१) संक्षिप्त इतिहास।

किसी विषयको जानने के पहले, लोग उसके इतिहास, उत्पत्ति और विकास की बातें जानना चाहते हैं। मनुष्योंकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है; और, अच्छी है। इसीसे बड़े २ प्राचीन इतिहासोंकी रचना हुई; क्योंकि मनुष्य जिस बातको चाहता है उसे खोजकर ही मानता है। यही साधन है, जिससे हमारे प्राचीन इतिहासोंकी सृष्टि हुई। ज्ञातव्य विषयके इतिहास की जब थोड़ी बहुत बातें मनुष्य जान लेता है, तब उसे उस विषयके पढ़ने की सच्ची रुचि होती है, और एक प्रकारसे शान्ति मिल जाती है। अस्तु; इसीलिये वक्तृत्व-कलाके विषयमें कुछ लिखने के पहले, यहाँ उसका संक्षिप्त इतिहास दिया जाता है।

मुझको न मुल्कसे है न ज़रो मालसे ग़रज़ ।
रखता नहीं मैं दुनियाँके जञ्जालसे ग़रज़ ॥
है इल्तजा यही कि करम तू अगर करे ।
[illegible] र असर करे ॥

—प्रो. केसर [illegible]

वक्तृत्व-कला।

(१) संक्षिप्त इतिहास।

किसी विषयको जानने के पहले, लोग उसके इतिहास, उत्पत्ति और विकास की बातें जानना चाहते हैं। मनुष्योंकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है; और, अच्छी है। इसीसे बड़े २ प्राचीन इतिहासोंकी रचना हुई, क्योंकि मनुष्य जिस बातको चाहता है उसे खोजकर ही मानता है। यही कारण है, जिससे हमारे प्राचीन इतिहासोंकी वृद्धि हुई। सामान्य विषयके इतिहास को जब थोड़ी बहुत बातें मनुष्य जान लेता है, तब उसे उस विषयके पढ़ने की बड़ी रुचि होती है, और एक प्रकारसे शान्ति मिल जाती है। अस्तु; इसीलिये वक्तृत्व कलाके विषयमें कुछ लिखने के पहले, यहाँ उसका संक्षिप्त इतिहास दिया जाता है।

मुझको न मुल्कसे है न ज़रो मालसे ग़रज़ ।
रखता नहीं मैं दुनियाँके जञ्जालसे ग़रज़ ॥
है इल्तजा यही कि करम तू अगर करे ।
वह बात दे ज़ुबाँमें कि दिल पर असर करे ॥

—श्री केसर आज़ाद

ातके अनुकूल नहीं बना सकता था। और, बिना
ाभाव पड़े कोई किसीके अनुकूल बन नहीं सकता।
इसलिये उस समय राजनैतिक विचारोंमें उत्तम परिवर्तन
करने और एक दूसरे के विचारोंमें लाभ उठाने के लिये
लोगोंने वक्तृत्व को ही अपना मुख्य साधन समझा।

प्रजातंत्र-राष्ट्रकी नींव सबसे पहले यूनानमें पड़ी;
इसलिये इस कलाके विद्वान् पहले यूनान ही में उत्पन्न हुए।
एथेन्स यूनानकी राजधानी है। वह यूरोपमें एक छोटा सा
नगर है। उसमें प्रजातंत्र-राष्ट्र और वक्तृत्व शक्तिकी इतनी
विशेषता होगई थी कि आज भी उसे इस विषयमें उच्च
गौरव प्राप्त है। यूनानके पास स्पार्टा, थीब्ज़ और मास्टन
आदि कई राष्ट्र हैं। ये उस समय इतने प्रबल हो गये थे
कि यूनान किसी दशामें इनकी बराबरी नहीं कर सकता
था; पर इनके इतिहासमें एक भी प्रसिद्ध वक्ताका नाम नहीं
है। इसका कारण यह मालूम होता है कि शायद इनमें
प्रजातंत्रकी स्थापना नहीं हुई थी; इसलिये इनको कोई
प्रभावशाली वक्ता उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ी
और न इन्होंने इस पर विचार ही किया। इसी प्रकार
पहले इटालीकी भी यही दशा थी; परन्तु जब वहाँ
प्रजातंत्र-राष्ट्रकी नींव पड़ी, तो वक्तृत्व-शक्तिका भी
विकास होगया। इसी समय रूमने सिसरो जैसे प्रसिद्ध
और सुवक्ता उत्पन्न किये। इङ्गलैंडमें भी पहले वक्तृत्व-
कलाका प्रचार नहीं था। परन्तु जब वहाँ राजा और प्रजा
में घोर युद्ध हुआ; और राजकीय अधिकार परिमित करके
प्रजाको स्वतंत्रतासे शासन-कार्यमें हस्तक्षेप करने का अवसर

पाठकोंको ज्ञात है कि हाल ही में स्वराज्यका जो आन्दोलन उठा उसमें कितनी ही नवीन सभाएँ स्थापित हुईं; और कितनी ही पुरानी सभाओंने विशेष उन्नति करके स्वराज्य-आन्दोलनकी नींवको दृढ़ किया। इसमें कितने ही नये वक्ता होगये; और जिनको सभामें खड़े होकर एक शब्द तक बोलना नहीं आता था उन्होंने भी प्रयत्न करके इस विद्याको सीखा और अपने विचार प्रकट किये, तथा पुराने वक्ताओंने, जिनको व्याख्यान देने का खूब अभ्यास था, अपनी वाक्‌शक्तिकी विशेष उन्नति करके लाभ उठाया। यह सारा काम आवश्यकता पड़ने पर ही हुआ; क्योंकि ऐसे कामोंमें वक्तृत्व-शक्तिकी प्रायः विशेष आवश्यकता हुआ करती है। यदि यह आन्दोलन न छिड़ता, तो कई लोगोंको व्याख्यान देना सीखनेकी आवश्यकता न जान पड़ती। यह बात दूसरी है कि इसमें किस वक्ताने ख्याति पाई और किसने नहीं। पर इतना अवश्य है कि इस आन्दोलनमें प्रायः सभीने वाक्-शक्तिकी विशेष आवश्यकता समझी; और उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये वक्तृत्व-कला सीखकर अपना काम चलाया।

. . . . ऐसे समयमें इस कलाकी आवश्यकता आजही नहीं जान पड़ी। इतिहासमें यह बात प्रसिद्ध है कि जब २ प्रजातंत्र-शासनकी नींव डालनेका प्रयत्न किया गया, तब २ वक्तृत्व-शक्तिकी भी आवश्यकता जान पड़ी। जिस देशमें पहले यह नींव डाली जाने लगी, वहाँ वक्तृत्वकी भी अत्यन्त आवश्यकता हुई; क्योंकि इसकी सहायताके बिना कोई प्रतिनिधि अपने विचार दूसरों पर प्रकट करके उनको अपने

मतके अनुकूल नहीं बना सकता था। और, बिना प्रभाव पड़े कोई किसीके अनुकूल बन नहीं सकता। इसलिये उस समय राजनैतिक विचारोंमें उत्तम परिवर्तन करने और एक दूसरे के विचारोंसे लाभ उठाने के लिये लोगोंने वक्तृत्व को ही अपना मुख्य साधन समझा।

प्रजातंत्र-राष्ट्रकी नींव सबसे पहले यूनानमें पड़ी; इसलिये इस कलाके विद्वान् पहले यूनान ही मे उत्पन्न हुए। एथेन्स यूनानकी राजधानी है। यह यूरोपमे एक छोटा सा नगर है। उसमें प्रजातंत्र-राष्ट्र और वक्तृत्व शक्तिकी इतनी विशेषता होगई थी कि आज भी उसे इस विषयमें उच्च गौरव प्राप्त है। यूनानके पास स्पार्टा, थीब्ज़ और मास्टन आदि कई राष्ट्र है। ये उस समय इतने प्रबल हो गये थे कि यूनान किसी दशामें इनकी बराबरी नहीं कर सकता था; पर इनके इतिहासमें एक भी प्रसिद्ध वक्ताका नाम नही है। इसका कारण यह मालूम होता है कि शायद इनमे प्रजातंत्रकी स्थापना नहीं हुई थी; इसलिये इनको कोई प्रभावशाली वक्ता उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ी और न इन्होंने इस पर विचार ही किया। इसी प्रकार पहले इटालीकी भी यही दशा थी; परन्तु जब वहाँ प्रजातंत्र-राष्ट्रकी नींव पड़ी, तो वक्तृत्व-शक्तिका भी विकास होगया। इसी समय रूमने सिसरो जैसे प्रसिद्ध और सुवक्ता उत्पन्न किये। इङ्गलैंडमें भी पहले वक्तृत्व-कलाका प्रचार नहीं था। परन्तु जब वहाँ राजा और प्रजा में घोर युद्ध हुआ; और राजकीय अधिकार परिमित करके प्रजाको स्वतंत्रतासे शासन-कार्यमें हस्तक्षेप करने का अवसर

दिया गया, तभीसे यहाँ इसकी उत्पत्ति हुई और उसी समयसे इसकी वृद्धि मानी जाती है। ऐसा ही फ्रांसमें हुआ। वहाँ जब १७ वीं शताब्दीमें घोर उपद्रव उपस्थित हुआ जिसने सारे यूरोपमें हलचल मचा दी, तब वहाँके लोगोंने वक्तृता का बड़ा सन्मान किया और इसके प्रचारकी अत्यन्त आवश्यकता समझी। अमेरिकाभी पहले वक्तृत्व-कलासे अनभिज्ञ था; पर प्रजातंत्र-राष्ट्रने जब वहाँ जोर पकड़ा, तब वहाँके लोग वक्तृता देवीकी उपासना करने लगे। इन बातोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रजातंत्र-शासनके साथ वक्तृत्व-शक्तिका भारी लगाव है। यदि ऐसा न होता, तो इन राष्ट्रोंमें प्रजातंत्र-शासनकी नींव पड़ना असंभव था। सारांश यह कि इस शक्तिके विकासके बिना, प्रजातंत्र-शासनकी नींव यदि पड़ भी जाय, तो वह दृढ़ कदापि नहीं हो सकती।

अब एशियाको लीजिये। इसमें आजतक कितने ही बड़े २ राष्ट्र हो गये; पर किसी के इतिहासमें यह बात नहीं पाई जाती कि अमुक वक्ताकी वक्तृता सुनकर लोग तुरन्त किसी काममें लग गये हों, या उनके हृदयमें कोई असाधारण उत्तेजना उत्पन्न हो गई हो। इतना ही नहीं, कहीं यह भी सुनने में नहीं आता कि इस कलाको सिखानेके लिये कोई शिक्षालय बनाये गये हों, या अध्यापकोंने अपने शिष्योंको कोई महत्व-पूर्ण वक्तृताएँ सुनाई हों। इससे मालूम होता है कि उस समय एशियामें इस कलाको कोई नहीं जानता था। इसीलिये "वक्ता" और "वक्तृता"—इन दो शब्दोंका मतलब जो इस समय समझा जाता है उसका कोई पर्यायवाचक शब्दभी एशियाकी भाषामें मिलना

कठिन है। क्योंकि लोग जब किसी विषयको जानते और उसका व्यवहार करते हैं, तभी उसका नाम रक्खा जाता है; और जब वे उसे जानते ही नहीं, तब उसका नाम कैसे हो? इसी प्रकार एशियाके लोगोंकी दृष्टिमें जब यह कला ही नहीं थी, तब शब्द कहाँ से हो?

अब भारतवर्ष पर दृष्टि डालिये। प्राचीन समयमें यह भारत अनेक विद्याओं और कलाओंका केन्द्र था। यहीं से दूसरे देशोंने विविध विद्याएँ सीखी हैं। अन्य देशोंके सिवा, यूनान और रूम भी भारतके बहुत ऋणी हैं। इतना होने पर भी, भारतका साहित्य दो बातोंमें शून्य है:—एक तो, इतिहाससे और दूसरे, वक्तृत्व कलासे। इतिहासके विषयमें तो यहाँ कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है; पर वक्तृत्व-शक्तिका विकास भारतमें क्यों नहीं हुआ इसका कारण जानने की नितान्त आवश्यकता है। जहाँ तक अनुमान किया जाता है, इसका कारण व्यक्तिगत शासनके सिवा और कुछ नहीं मालूम होता। प्राचीन समयसे लेकर अर्वाचीन समय तक, यहाँके शासनकी बागडोर व्यक्ति विशेषोंके हाथमें रही। प्रजाका उससे कोई संबंध नहीं रहा। शासक जो करता विचारसे नहीं होता, प्रजा उसमें कोई चूँ-चपाट नहीं करने पाती थी। ऐसी दशा में भला वक्तृता देवीकी क्या पूछ हो सकती थी? परन्तु मुसलमानोंके इतिहासमें इसकी, इसकी बहुत कुछ पुष्टि मिलती है। हजरत मुहम्मदके शिष्य इसके बड़े भक्त थे। उन्होंने वक्तृत्व-शक्तिकी सहायतासे अरब, ईरान, हिन्दुस्तान, चीन आदि प्राच्य देशोंमें तथा मिश्र, अफ्रीका, स्पेन,

फ्रान्स, तुर्किस्तान आदि पाश्चात्य देशोंमें दीन इस्लाम का झंडा गाड़ कर अनेक राष्ट्र स्थापित कर दिये थे। इस कामके लिये उन्होंने यूनान और रूमकी कई भाषाएँ सीखी थीं; और वैद्यक, ज्योतिष तथा नैतिक विषयोंकी पुस्तकोंके अनुवाद भी अपनी भाषामें किये थे। परन्तु इन भाषाओंमें वक्तृत्व-सम्बन्धी जो उत्तम साहित्य था वह उनकी शासन-प्रणालीके विरुद्ध होने के कारण, उनको अनुकरणीय नहीं जान पड़ा; और इसीलिये उन्होंने उसे अपनानेका स्वप्नमें भी विचार नहीं किया। यही कारण है जो तत्कालीन किसी राज्यमें प्रजातंत्र-शासनकी छाया तक नहीं पड़ने पाई।

इन बातोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि प्रजातंत्र-राष्ट्रकी नींवके साथही वक्तृत्व-कलाकी भी नींव जमी, और जब जहाँ प्रजातंत्र-शासनने ज़ोर पकड़ा, तभी तहाँ इसने खूब उन्नति की। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस कलाकी उत्पत्तिका कारण केवल प्रजातंत्र-शासन ही क्यों बताया जाता है? क्या अन्य सामाजिक और जातीय आवश्यकताएँ इसका कारण नहीं हो सकतीं? इस प्रश्नका उत्तर बहुत सरल है, और वह यह है कि किसी व्यक्तिको अपने गुण प्रकट करनेके लिये अवसरकी आवश्यकता हुआ करती है। यदि उसे अवसर न मिले, तो उसके गुण प्रकाशित नहीं होने पाते। प्रसङ्ग पड़ने परही गुण प्रकट होते हैं, बिना प्रसङ्ग पड़े उनका छिपा रहना स्वाभाविक है। कल्पना कीजिये कि कोई मनुष्य वक्तृत्व-कलामें बहुत निपुण है और उसकी वक्तृत्व-शक्ति पराकाष्ठाको

पहुँची हुई है। परन्तु जबतक उसे उस शक्ति के परिचय देने का अवसर नहीं मिलेगा, तब तक वह शक्ति छिपी रहेगी। यहाँ तक कि बिना अवसर पाये उसे अपनी शक्ति का अनुभव भी न होगा। परन्तु जब उसे परिचय देने और अपना गुण प्रकट करनेका अवसर मिलेगा, तभी वह क्रमशः अपने गुण प्रकट करेगा और जानेगा कि मुझमें अमुक २ शक्ति विद्यमान है। वह एकाएक यह बात जानकर आश्चर्य भी करेगा; क्योंकि पहले पहलही उसे इस बात का अनुभव होगा। इसी प्रकार वक्तृत्व-शक्तिका काममें लाने के लिये अवसरकी बड़ी आवश्यक़ता होती है, और इसका सर्वोत्तम साधन प्रजातन्त्र-शासन है। विशेष करके प्रजातंत्र-शासनका आरंभिक आन्दोलन इसकी प्रधान सामग्री है; क्योंकि इसमें प्रत्येक मनुष्यको बोलने की विशेष आवश्यकता पड़ा करती है। यह बात नियम-बद्ध है कि प्रजातंत्र-शासनको अपने लिये क़ानून बनाने और सब विषयोंका निर्धार करने में बहुपक्षका आदर्श मानना पड़ता है। जब यह बात है, तो प्रत्येक मनुष्य इससे लाभ उठाने की चेष्टा भी करता है, और यह चेष्टा वक्तृत्व-शक्ति के बिना फलवती होती नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको वक्तृत्व देवीकी आराधना करनी पड़ती है। दूसरोंकी सम्मतियोंको अपने अनुकूल बनाने के लिये जैसा यह खास अवलम्बन है वैसा और नहीं। इसी प्रकार प्रजातंत्र-शासन जैसे महत्व-पूर्ण अवलम्बनके सिवा और कोई ऐसा अवलंबन नहीं है जो वक्तृत्व-शक्तिका परिपोषण करके उसे उन्नतिकी चरम सीमा तक पहुँचा सके। विशेषतः प्रजातंत्र-शासनकी

प्रणाली इसकी उन्नतिका मूल मंत्र है। चाहे वह प्रणाली नैतिक हो, धार्मिक हो, सामाजिक हो, अथवा कैसी भी हो; पर वक्तृत्व-शक्तिकी उन्नतिका मार्ग वही बताती है। इसकी पुष्टिके लिये कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि यूनान एक छोटा सा नगर है। यूरोपके नकशेको देखिये। उसमें इसकी सीमा एक इंचसे अधिक न होगी। पर, इतना छोटा होने पर भी, इसकी ख्याति आज सारे संसारमें छाई हुई है। इसके इतिहासके विषयमें कहा जाता है कि जिसने इस देशका इतिहास नहीं पढ़ा वह मानों मानुषी बुद्धिके चमत्कारिक विकासके इतिहाससे सर्वथा अनभिज्ञ है। इसके पड़ोसमें और भी कई बड़े २ देश हैं; पर इसने जो प्रसिद्धि प्राप्त की वह और किसीने नहीं की। इसके पास वाले कितने ही देशोंमें तो साक्षात् ईश्वरके दूतोंने जन्म लेकर वहाँके लोगों को विश्वास दिलाया कि तुम्हारा देश ईश्वरको प्यारा है, परन्तु यूनानने सबसे छोटा और ईश्वरको अप्रिय होने पर भी, केवल अपनी बुद्धिके भरोसेपर, सुख्याति प्राप्तकी। सबसे पहले वक्तृत्व-शक्तिने यहीं जन्म लिया और बहुत शीघ्र उन्नति की। पश्चात् यहींसे इस शक्तिने दूसरे देशोंमें पदार्पण किया।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब और देश इस कलाको जानते भी न थे, तब इसकी उत्पत्ति यूनानमें एकाएक कैसे होगई? इसका उत्तर बहुत सीधा है; और यह है कि सबसे पहले यूनान ही में प्रजातंत्र-शासनकी नींव पड़ी। जब एथेन्सको यह गौरव प्राप्त हुआ कि उसमें प्रजा

प्रतिनिधि इकट्ठे होकर शासन-सम्बन्धी विषयोंकी बहुमत से निष्पत्ति करें, तो सभासदोंको सर्वसाधारणके मत अपने अनुकूल बनाने की चिन्ता पड़ी। वे सोचने लगे कि सर्व-साधारणका मत अपने अनुकूल कैसे बनाया जाय, और इस के लिये किस बातकी विशेष आवश्यकता है? उन्होंने सोच विचारकर परिणाम निकाला कि जब तक युक्तिके द्वारा, ओजस्वी शब्दोंमें, अपने विचार सर्वसाधारणके सामने न रक्खे जायँगे, तब तक उनपर अपना प्रभाव नहीं पड़ सकेगा। बस, इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वे बोलने का अभ्यास करने लगे। थोड़े दिनोंमें वहाँ कई वक्ता होगये; और एथेन्सके जितने प्रसिद्ध मंत्री या सदस्य थे वे सब सुवक्ता हो गये। इन सबमें अन्तिम वक्ता डिमास्थेनीज़ हुआ। यह बड़ा प्रसिद्ध वक्ता था। इसने अपनी अलौकिक वक्तृत्व-शक्तिसे बड़े २ अद्भुत काम किये हैं। मकदूनियाँ के राजा फ़िलिपने जब यूनानपर चढ़ाई की, तब इसे अपने साथियों समेत बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। पर इन लोगोंने अपनी वक्तृत्व-शक्तिके प्रभावसे यूनानको लड़नेके लिये उद्यत किया। यह लड़ाई ईस्वी सन्‌के ३३८ वर्ष पहले हुई थी। यद्यपि इस लड़ाईमें यूनानको पराजित होना पड़ा और तभीसे वह लगभग दो हज़ार वर्ष तक पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़ा रहा, तथापि सन् १८२१ ई० में उसके इस कष्टका सर्वथा अन्त हो गया। तब वह स्वाधीनता के मैदानमें सानन्द विहार करने लगा। यद्यपि इस युद्धमें डिमास्थेनीज़ और उसके साथियोंको सफलता नहीं मिली, तथापि उनके साहस, देशानुराग और वक्तृत्व-शक्तिकी

खूब प्रशंसा हुई और सदा होती रहेगी। इनके शत्रु फ़िलिप को यूनानकी सेनासे इतना चिंतित नहीं होना पड़ा जितना इनके प्रभाव और वक्तत्व-शक्तिसे होना पड़ा था। फ़िलिप ने अपनी नीति-कुशलतासे कुछ वक्ताओंको लोभ देकर अपनी ओर खींच लिया था; इसीलिये उसको सफलता मिली। उसकी सफलताका यह भी एक दूसरा कारण है। इस प्रसङ्ग पर प्रख्यात वक्ता डिमास्थेनीज़का कुछ परिचय देना अनुचित न होगा।

डिमास्थेनीज़का जन्म एथेन्समें हुआ था। इसकी आरंभिक दशा कुछ अच्छी नहीं थी। सबसे पहले इसको कैलिस्ट्रेटस नामके एक प्रसिद्ध वक्ताकी वक्तृताएँ सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये वक्तृताएँ इसने बड़े ध्यानसे सुनीं। सब लोग कैलिस्ट्रेटसकी वक्तृत्व-शक्तिकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। यह देखकर डिमास्थेनीज़के हृदयमें वक्ता बननेकी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। जब उसने देखाकि नगर-निवासियोंने बड़े समारोहके साथ कैलिस्ट्रेटसका स्वागत किया है, तब उसकी यह इच्छा और भी प्रबल हो उठी। उसी दिनसे डिमास्थेनीज़ खेलना-कूदना छोड़कर, कैलिस्ट्रेटसके साथ रहने लगा। कैलिस्ट्रेटसके व्याख्यानने उसके जीवनमें बड़ा भारी परिवर्तन कर डाला। अब उसने संकल्प कर लिया कि मैं किसी न किसी तरह वक्ता बनूंगा। इसी उद्देश्यको सामने रखकर वह अनवरत परिश्रम करने लगा। जब उसकी अवस्था ११ वर्षकी हुई, तब उसने एक मुक़दमा चलाया और इसकी पैरवीमें वह स्वयं बोला। बहुतसी कठिनाइयोंके बाद उसकी विजय प्राप्त

हुई; और विशेष लाभ यह हुआ कि अपनी ओर से स्वयं बोलनेके कारण, उसकी वक्तृत्व-शक्ति बहुत बढ़ गई। सबसे पहले सर्वसाधारणमें उसने एक वक्तृता दी, तो लोग हँसने लगे; क्योंकि उस समय उसकी बोली धीमी और स्वर कर्कश था; और वह शब्दोंका उच्चारण भी ठीक २ नहीं कर सकता था। दूसरे, उसके अङ्गविक्षेप और संकेत-निदर्शन भद्दे थे एवं दम बड़ा हुआ नहीं था; इसीलिये बोलनेमें उसको रुकना पड़ा और श्रोतागण उसके आशयको ठीक २ न समझकर हँसने लगे। जब सभा विसर्जित हुई, तो डिमास्थेनीज़ लज्जाके मारे सिर नीचा किये इधर-उधर घूमने लगा। यह देखकर एक वृद्धने उससे कहा, "आप इतने हताश क्यों होते हैं? लोग हँसते हैं, तो हँसने दीजिये। यदि आप लगातार प्रयत्न करते रहेंगे, तो येही लोग मुक्त कंठसे आपकी प्रशंसा करने लगेंगे।" कई दिनों तक डिमास्थेनीज़का सर्वसाधारणमें कोई मान नहीं हुआ; इसलिये उसकी आशा निराशामें परिणत होने लगी। एक दिन उसने सेटाइरस नामक एक व्यक्तिसे कहा, "महाशय, कैसे आश्चर्यकी बात है कि मैं रातदिन वक्ता बननेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता हूँ, तोभी लोग मेरे व्याख्यानों पर ध्यान नहीं देते; और जो बकझक अट सट बकते रहते हैं उनका बड़ा आदर होता है।" यह सुनकर सेटाइरसने कहा, "अच्छा, हम आपको एक वशीकरण मंत्र बताते हैं। वह यह है कि आपको जो कोई वक्तृता याद हो उसे दुहरा दीजिये।" जब डिमास्थेनीज़ दुहरा चुका, तब सेटाइरस ने उसी वक्तृताको नमक-मिर्च लगाकर ऐसे ढङ्ग और

हावभावके साथ दुहराया कि यह साधारण बात भी अद्भुत मालूम होने लगी। यह सुनकर डिमास्थेनीज़को ज्ञात हुआ कि ढङ्गके साथ कहनेका कैसा प्रभाव पड़ता है। इसके बाद उसने एकान्त स्थानमें एक पाठनालय बनाया। वहाँ वह अपने स्वरको ठीक करने और वक्तृत्व-शक्तिको बढ़ाने के लिये प्रतिदिन जाया करता था। कभी २ वह दो २ तीन २ मास वहीं व्यतीत कर देता था। अपने स्वरको गंभीर और उदात्त बनानेके लिये वह समुद्रके किनारे भी जाया करता था। जब समुद्रकी लहरोंका बड़ा कोलाहल होता, तब वह बड़े ऊँचे स्वरसे व्याख्यान देता जिससे सर्वसाधारणके हल्लेमें उसे वक्तृता देनेका अभ्यास हो जावे। हावभाव ठीक करनेके लिये उसने अपने यहाँ एक बड़ा दर्पण रख लिया था; और सर्वसाधारणमें व्याख्यान देने के पहले वह उस दर्पणके आगे वक्तृता दे लिया करता था। इसके सिवा, नाटकघरों में जा जा कर वह चतुर नटों के हावभाव और भाषण-पद्धतिको भी देखता था। कभी कभी कंधा हिलाने की उसे एक बुरी आदत पड़ गई थी। इस आदतको दूर करने के लिये उसने सैकड़ों उपाय किये, परन्तु जब कुछ फल नहीं हुआ, तो उसने एक चौकी बनवाई और उसके ऊपर एक नङ्गी तलवार टाँगदी। प्रतिदिन वह इस चौकी पर खड़ा होकर अपने घरमें वक्तृता देता था। इस समय जो उसका कंधा ऊँचा होता, तो उसे तलवारकी नोंक ठीक देती थी। फल यह हुआ कि उसकी यह आदत छूट गई। अपनी हकलाहट दूर करने के लिये उसने मुँहमें छोटे २ कंकर रखकर बोलने का अभ्यास किया

और दम बढ़ाने के लिये वह छोटी २ पहाड़ियों पर चढ़ता और उतरता था एवं जो वक्तृता उसे याद होती उसे दुहराता जाता था।

कभी कभी वह अपने आधे सिरको इसलिये मुड़वा लेता कि कहीं इस परिश्रमसे जी उकता जावे और इस कामको छोड़कर बाहर घूमनेको मन चले, तो आधा सिर मुड़ा रहने की लज्जासे बाहर न जा सकूं। जब कभी वह किसीसे मिलने जाता अथवा कोई उससे मिलने आता, तो वह बातचीत करनेके लिये ऐसा विषय चुनता जिसमें वाद-विवादही और उसकी वक्तृत्व-शक्ति बढ़े। ज्योंही वह अपने मित्रोंसे छुटकारा पाता, सीधा अपने पाठनालयमें चला जाता और जो कुछ बातचीत अपने मित्रोंसे की होती उसे वहाँ दुहराता था। जिन वक्तृताओंको वह अच्छा समझता उन्हें कंठ कर लेता और क्रमानुसार उनको दुहराया करता था। लोग प्रायः कहा करते कि "डिमास्थेनीज़में प्राकृतिक वक्तृत्व-शक्ति नहीं है।" यह जो कुछ लोगोंसे कहता उसे या तो पूरा या उसका कुछ भाग लिख लेता था। लोगोंका ख़याल था कि डिमास्थेनीज़ आशु वक्ता नहीं है; पर उनका यह भ्रम थोड़ेही दिन रहा। जब ईस्काइन हारता जाता रहा और मकदूनियाँ के सम्राट् फ़िलिपने एथेन्सपर धावा करनेका विचार किया, तब एथेन्स वालोंने थीबिसवासी निवासियोंसे सहायताके लिये प्रार्थना की। यह सुनकर फ़िलिपने थीबियाके अध्यक्षके पास कई राजदूत भेजे। इन राजदूतोंमें पायथन नामक एक वक्ता भी था। इसने उन लोगों के सामने एथेन्स-वासियोंकी जी खोलकर बुराई

खाकर आत्म-हत्या कर ली ।

डिमास्थेनीज़ने अपनी वक्तृत्व-शक्तिसे बड़े २ काम किये; और बड़ी २ विकट कठिनाइयोंका सामना करके वक्तृत्व-शक्ति प्राप्तकी । इसीलिये लोगोंका अनुमान है कि आजतक डिमास्थेनीज़के समान कोई वक्ता नहीं हुआ ।

दूसरा उदाहरण रूमका लीजिये । इस नगरमें पहलेसे ही प्रजातंत्र-शासनकी प्रणाली जारी थी; इसलिये लोगोंको वक्तृत्व कलाकी बड़ी आवश्यकता रहती थी । यहाँ प्रजाके प्रतिनिधियोंके दो दल थे, जो "खास" और "आम" के नामसे प्रसिद्ध थे । एक बार जब इन दलोंमें किसी विषय पर वाद विवाद हुआ, तो पहले दलके एक चतुर वक्ताने ईसाप की कहानीमें से उदर और शरीरके अन्यान्य अङ्गोंका वर्णन करके बड़ी सुगमतासे दोनों दलोंका विरोध मिटा दिया । फिर वे दल खूब मिल जुलकर रहने लगे । आगे चलकर यहाँ सम्राट् पिटरसका मंत्री सीनियस बड़ा प्रसिद्ध वक्ता हुआ । शासन-विभागमे जिसका कुछ भी लगाव होता था उसको वक्तृत्व-शक्तिका अभ्यास करना ही पड़ता था । रूमके प्रसिद्ध वक्ताओंमें सीज़र और सीरियस के नाम विशेष-उल्लेख-योग्य हैं । ये दोनों रूमके प्रसिद्ध नेता थे । इन्होंने चिरकाल तक वहाँके शासनमें भाग लिया । ये दोनों नेता वक्तृत्व-कलामें खूब अभ्यस्त थे । सीरियसकी वक्तृत्व-शक्तिका पता तो उसके एक दार्शनिक ग्रन्थसे लगता है जिसमें इसने विविध विद्वानोंके मौलिक-सिद्धान्त दिये हैं । और, सीज़र इस कलामें ऐसा निपुण था कि उसकी प्रशंसा बड़े बड़े प्रसिद्ध वक्ता करते थे । यहाँ

तक कि इसका अद्वितीय वक्ता सिसरो भी इस विषयमें उसकी प्रशंसा किया करता था। उस समयके वक्ताओंमें सिसरोके बाद इसी का नम्बर था।

सीज़रके पश्चात्, ब्रूटस और आन्टिनी नामके दो प्रसिद्ध वक्ता हुए। इनकी वक्तृत्व-शक्ति इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि कोई भी वक्ता इनकी बराबरी नहीं कर सकता था। इंगलैंडके प्रख्यात नाटककार शेक्सपियरने अपने एक नाटकमें इनकी वक्तृताओंका उद्धरण दिया है जिसे मन लगाकर पढ़नेसे पाठकोंके इनकी वक्तृताका चित्र आँखों के सामने झूलने लगता है, और साथही वक्तृत्व-शक्तिका महत्व भी हृदय पर अङ्कित हो जाता है। इसी प्रकार जब तक रोममें प्रजातन्त्र-शासनका झंडा फहराता रहा, तबतक वहाँ एक से एक बढ़कर वक्ता उत्पन्न होते रहे। किन्तु जब स्वेच्छाचारी शासनकी नींव पड़ी और बढ़ने लगी, तभीसे वहाँ इस कलाका ह्रास होने लगा।

सैनिक-विभागमें भरती हुआ; और सिसरो क़ानूनी उपाधि प्राप्त करके वकील बना। इसके समकक्ष और भी ३-४ वकील थे जो इससे बड़ा द्वेष रखते थे। उनसे इसका कई बार मुकाबिला हुआ; पर अन्तमें हार मानकर उनको इस की प्रतिस्पर्धा छोड़ देनी पड़ी। वकीलीमें वक्तृत्व-शक्ति को बढ़ानेका अच्छा अवसर मिलता है। इसीलिये सिसरो की वक्तृत्व-शक्ति पहले वकालत करनेके कारण ही बढ़ी। उस समय वक्तृत्व-कला सिखानेके लिये दो विश्वविद्यालय भी थे। एक एथेन्समें था और दूसरा होड्समें। इन दोनों शिक्षालयोंमें, निपुण शिक्षकों की देखरेख में, सिसरो ने बहुत दिनों तक शिक्षा पाई। इसके बाद वह धीरे २ सेनेटमें अनेक उच्चपद और अधिकार प्राप्त करता रहा। बादको, कौंसिलके प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त होगया। वक्तृत्व-शक्तिमें इसकी योग्यता यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि बड़े २ श्रीमान् और समृद्धिशाली लोग भी इससे डरा करते थे। एक बार इसके शत्रुओंको सिला नामके सरदारने बहुत सहायता दी; पर इसने अपने मस्तिष्कके बलसे शत्रु की नीतिको उखाड़कर फेंक दिया। कटोलियन नामक एक धूर्त मनुष्यने राष्ट्रको हानि पहुँचानेके लिये जो षड्यंत्र रचा था उसका इसने ऐसी बुद्धिमानीके साथ भन्डा फोड़ा कि लोग चकित होगये। इस दुष्कर कार्यको पूरा करना इसीका काम था। इसी कठिन समयमें रूमको सिसरोकी बड़ी चाह हुई; और यही सुअवसर सिसरोकी उन्नति और अभ्युदयका कारण हुआ। इस समयकी उसकी वक्तृताएँ ऐसी ओजस्विनी और प्रभावशालिनी हैं कि वे रूमके

इतिहासमें उसका नाम सदा अमर रक्खेंगी। जब ५६ मनुष्य.ने मिलकर सीज़रका वध किया, तो कितने ही वर्षों तक रूममें हलचल मची रही। उस समय सीज़रका मित्र आंटिनी इस घटनासे स्वयं शासक बननेका लाभ उठाना चाहता था; पर सिसरो प्रजातंत्रका पोषक था; इसलिये उससे न रहा गया। उसने उस समय ऐसी ओजस्विनी वक्तृताएं दीं कि आंटिनीको रूम छोड़कर भाग जाना पड़ा। इतने पर भी सिसरोने उसका पीछा नहीं छोड़ा। उसको पकड़नेके लिये उसने सेना भेजी और आज्ञा दी कि रूमकी सीमामें जहाँ कहीं उसे पाओ शीघ्रही पकड़कर लाओ। अन्तमें जब आंटिनी रूमकी सीमासे बाहर चला गया, तब सिसरोको चैन पड़ी।

कुछ दिनोंके बाद आंटिनी फिर रूममें आया और उसने बहुतसे सरदारोंको अपनी ओर मिलाना आरंभ किया। जब सारे सरदार उसके अनुकूल होगये, तब उसने सिसरोसे अपना बदला लिया; और सिसरोको मरवाकर उसका सिर सेनेटमें टँगवा दिया।

इसके बाद, क्विन्टिलियन प्रसिद्ध वक्ता हुआ। यद्यपि इसके समयमें और भी कई वक्ता थे जो राजसभामें सुन्दर व्याख्यान देते और भाषाके बाह्य स्वरूपमें ही निमग्न रहते, जिनको सेंट-आगस्टाइनने "शब्दोंके व्यापारी" कहा है, तथापि क्विन्टिलियनमें बुद्धिकी जो तीव्रता और वाक्-चतुरता थी वह और किसीमें नहीं थी। इसने वक्तृत्व-कला-सम्बन्धी एक विख्यात ग्रन्थ लिखा है। २६ वर्ष की अवस्थामें यह रोममें प्रसिद्ध वक्ताकी पदवी पर

पहुँच गया, और पश्चात् बादशाह डोमीशियनने अपने भतीजोंको पढ़ानेके लिये इसे नियुक्त किया। इसमें इसने बहुतसा अनुभव प्राप्त कर लिया। यद्यपि इसकी बनाई हुई वक्तृत्व-सम्बन्धी पुस्तकमें अलंकार-शास्त्र और विशेषतः शिक्षण-कला-विज्ञानका निरूपण है, तथापि उसमें इसने वक्ता बननेके बहुत सरल उपाय बताये हैं। इसने लिखा है कि "भविष्य में वक्ता बनाने वाले बच्चेको पालने (झूले) में ही शिक्षा देना आरंभ करना चाहिये। उसके लिये धाय अच्छी होनी चाहिये; और छोटी २ बातोंका किसी प्रकार अनादर न करके वे बातें उसको अच्छी तरहसे समझाते रहना चाहिये। इससे धीरे धीरे बच्चेका ज्ञान बढ़ता है और उसके विचार दृढ़ होते जाते हैं, जिससे भविष्यमें वह विचारशील वक्ता हो सकता है। उसको नीतिकी शिक्षा भी यथासाध्य देनी चाहिये; क्योंकि अपना उत्कृष्ट आदर्श और वक्तृत्व-कलामें भेद मिटानेके लिये उसे नीति-शिक्षणमें उतरनाही पड़ता है। इसके बिना वह अपने उत्कृष्ट आदर्शसे वक्तृत्व-शक्तिमें सहायता नहीं ले सकता।" इससे सिवा इस पुस्तकके प्रथम भागमें सामान्य शिक्षाका निरूपण है; और उसकी सूचनाएँ बहुतसे बालकोंको जो भविष्यमें वक्ता होना चाहते हैं बड़ी उपयोगी हैं; एवं जो वक्ता बनना नहीं चाहते उनके लिये भी वे सूचनाएँ उत्तम गुरुका काम दे सकती हैं। आगे चलकर उसने लिखा है कि जो आपको पुत्र प्राप्त हो, तो उसके लिये पहलेसे ही ऊँची से ऊँची आशा बाँधना चाहिए। उसका सिद्धान्त है कि जन-स्वभावके लिये

उत्कृष्टतम विचार बँधे और उनमें प्रस्फोटनके लिये उत्तम उद्देशकी योजना हो, तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं। जो स्वभाव शिक्षाके अनुकूल है वह स्वाभाविक है। स्वभावमें प्रायः दोष होता नहीं, पद्धतिमें ही भूल हुआ करती है। इसके सिवा, उसने धात्रियोंके लिये भी कई सूचनाएँ लिखी हैं। उसका मत है कि "बालककी धाय पढ़ी-लिखी न हो, तो विशुद्ध वाणी वाली तो अवश्य ही होनी चाहिये; क्योंकि बालकोंकी प्रथम भावनाएँ चिरस्थायी होती हैं। नये घड़ेमें डाले हुये मद्यकी गंध पीछेसे एकाएक नहीं मिटती; और एक बार रँगी हुई ऊनमें फिर उज्ज्वलता नहीं आ सकती। इसी प्रकार बचपनमें वह अपनी धायकी जैसी शिक्षा लेगा और जैसी वाणी सीखेगा वैसाही वक्ता बन सकेगा। इसके अतिरिक्त, बालकोंको अपनी ही भाषामें शिक्षा देनी चाहिये, तब वह भविष्यमें प्रसिद्ध वक्ता बन सकता है।"

अब इङ्गलैंडका हाल सुनिये। ऊपर कहा गया है कि लगभग २०० वर्ष पहले, जब इङ्गलैंडमें राजा और प्रजा के बीच भयानक युद्ध हुआ था, तब वहाँ प्रजा-तंत्र-शासन की नींव पड़ी, और तभीसे वहाँ वक्तृत्व-शक्तिका विकास माना जाता है। इस युद्धके समय इङ्गलैंडमें कई वक्ता थे, और इसके कुछ पहले भी यहाँकी पार्लमेंटमें ऐसे प्रसिद्ध वक्ता थे जिनका वर्णन इङ्गलैंडके इतिहासमें पाया जाता है। परन्तु उनकी ख्याति उनके जीवन-काल तक ही रही। दो कारण हैं; एक तो यह कि उस समय इङ्गलैंडमें संक्षिप्त-लेखन-प्रणाली (Short-hand-writing) का

प्रचार अधिक है जिसकी सहायतासे उधर वक्तृताएं रटी है और इधर प्रेसमें छप रही है; वक्तृता समाप्त होते ही छपकर बँटने लग जाती है—यह आविष्कार उस समय यहाँ नहीं हुआ था। दूसरा कारण यह है कि जब आकृति सामने होती है, तभी उसका प्रतिबिम्ब अच्छा उतरता है। पीछे यदि चित्रोंमें उसे बनाया जाय, तो उसमें वह विशेषता कदापि नहीं आवेगी। इन्हीं दो कारणोंसे इन वक्ताओं की ख्याति स्थिर नहीं रही, नये वक्ताओंकी ख्यातिने इनकी ख्यातिको दबा दिया। जो हो, अब इङ्गलैंडके कुछ प्रसिद्ध वक्ताओंका परिचय पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जाता है।

वैसे तो समय और आवश्यकताके अनुसार, इङ्गलैंडमें कई सुवक्ता हुये; पर सबसे पहला वक्ता लार्ड चैथम हुआ जिसका दूसरा नाम विलियम पिट था। इसने हाउस आफ़ कामन्समें भरती होकर अपनी उच्च योग्यता से बड़ा नाम कमाया। ओजस्विनी तथा प्रभावशालिनी वक्तृताओंसे सारी पार्लामेंटको अपनी मुट्ठीमें करके इसने शासनकी बागडोर अपने हाथमें करली थी। उस समय इसकी जोड़का फाक्स नामक एक और भी सुवक्ता था जो इसीके समान प्रजातंत्रका पोषक था और अन्त समय तक बना रहा। चैथमकी मृत्युके बाद, उसका पुत्र विलियम पिट (द्वितीय) उसका स्थानापन्न हुआ। यह साधु स्वभाव और सरल प्रकृतिका था। यद्यपि यह राष्ट्रका बड़ा शुभचिन्तक था, तथापि जो सुयश और प्रताप इसके पिताने प्राप्त किया था वह इसे न मिल सका। इसीके समयमें

फ्रान्समें नेपोलियनकी विशेष उन्नति हुई जिसने सारे यूरोप पर अपना अधिकार जमाना चाहा और इसी विचार से इङ्गलैंड पर विशेष दृष्टि रक्खी। इसी चिन्तामें नेपोलियन का प्राणान्त हुआ। इसके पश्चात् विलिंगटन और ब्लोचर आदि सेनापतियोंने फ्रान्स पर चढ़ाईकी और उसको पराजित किया। इसी समय और भी बहुतसे वक्ता हुये जिनमे बर्क और शेरीडेन मुख्य गिने जाते हैं।

बर्क बड़ा प्रशंसनीय वक्ता था। उसकी प्रसिद्धि का प्रमाण भारतमें भी पाया जाता है। आज भी जो मनुष्य बोलनेमें तेज़ होता है उसे लोग बर्क कहते हैं; और इसके लिये "बोलनेमें बड़ा ज़र्क बर्क है" वाली कहावत प्रसिद्ध है। अस्तु, यहाँ बर्कका संक्षिप्त परिचय दे देना कुछ अनुचित न होगा।

यह जगत्प्रसिद्ध व्यक्ति सुवक्ता होनेके सिवाय नीतिज्ञ भी था। नीतिज्ञतामें इसकी जोड़का और कोई नहीं था। इङ्गलैंडमें जब इसका दौरदौरा अधिक था, तब वहाँ प्रसिद्ध कवि जान्सन भी मौजूद थे। इन दोनोंमें बड़ी मित्रता थी। दोनों एक दूसरेका आदर करते और सदा साथ रहते थे। यद्यपि जान्सनको अपनी योग्यताका बड़ा घमंड था, तथापि बर्कके लिये उसके हृदयमें बड़ा आदर था। वह प्रायः कहा करता था कि यदि किसी मनुष्यको क्षणभर के लिये भी बर्ककी सङ्गतिका सौभाग्य प्राप्त हो जाय, तो वह बड़ा भाग्यशाली है। इन दोनोंने कामोंमें बड़ी उन्नति की। जान्सनने तो ग्रन्थकारी पद पाया; और बर्कने राजनीति तथा वक्तृत्व-

शक्तिमें अमित यश प्राप्त किया। सत्रहवीं शताब्दीके अन्त में जब अमेरिका और इङ्गलैंडमें अनबन हुई थी, तब इसने बड़ी ओजस्विनी वक्तृताएँ दी थीं। उस समयकी इसकी वक्तृताएँ जसी प्रभावशालिनी हैं, वैसी और समयकी नहीं। इसकी वक्तृताएँ सुनकर स्वयं विलियम पिटको भी इसके सामने मस्तक झुकाना पड़ा था। यह इसकी ख्यातिका पहला ही अवसर था। इसकी मृत्युके बाद बर्कने वक्तृत्व-कलामें बड़ी उन्नति की; और ऐसी ख्याति पाई कि आज इङ्गलैंडमें जो अच्छी वक्तृता देता है उसे द्वितीय बर्ककी उपाधि दी जाती है।

जिस समय फ्रान्समें उत्क्रान्ति हुई और जिसके कारण सारे यूरोपमें शान्ति भङ्ग होने का भय उपस्थित हुआ, उस समय बर्क अपने प्रिय पुत्रके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल था। तौभी इसने अपनी योग्यतासे इङ्गलैंडको उस भयसे सुरक्षित रक्खा। इसके सिवा, भारतके प्रथम वाइसराय वारन हेस्टिंग्ज़के विषयमें इसने जो वक्तृताएँ दीं वे इसकी अन्तिम वक्तृताएँ हैं। वाइसराय पर पार्लामेंटमें २२ अपवाद लगाये गये थे, और इसी कारण उनको इस्तीफ़ा देकर विलायत लौट जाना पड़ा था। बर्कने अपनी वक्तृताओंमें इन अपवादोंको सिद्ध किया है; और प्रमाणपूर्वक वाइसरायको दोषी ठहरा दिया है। इस विषयमें जिस समय इसकी वक्तृताएँ होती थीं, उस समय हज़ारों मनुष्योंकी भीड़ लग जाती थी और लोग इसके प्रत्येक शब्दको बड़े चावसे सुनते थे। इन्हीं वक्तृताओंके कारण बर्कका सुयश और न्याय-प्रेम सारे

संसारमें फैल गया।

इसके बाद इङ्गलैंडमें यथासमय कई प्रसिद्ध वक्ता हुये जिनमें ब्राइट और ग्लैडस्टन आदि के नाम बहुत आदरके साथ लिये जाते हैं। ग्लैडस्टन समयका बड़ा पाबन्द था। बिना कामके वह आधा मिनिट भी नहीं जाने देता था। कई काम रहते हुए भी, उसने वक्तृताका अभ्यास किया था। इनके बाद भी वक्ता हुये और वक्तृत्व-कलाकी उन्नति करते रहे; पर उनके नाम विशेष-उल्लेख-योग्य नहीं हैं। इस समय तो इङ्गलैंडमें यह व्यवसाय इतना उन्नत हो गया है कि वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। और इसी कारण अब यह राजनैतिक सीमा तक ही परिमित नहीं रहा; बल्कि सामाजिक, धार्मिक और औद्योगिक विषयोंमें भी अपना पूरा चमत्कार बता रहा है।

अब भारतवर्षकी ओर दृष्टि डालिये। यहाँ इस कलाका कभी विकास हुआ था या नहीं—इस पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि यहाँका जल-वायु व्यक्तिगत शासनके कारण सर्वदा इस कलाके प्रतिकूल रहा है। जैसा यूनान और रूम के प्रजातंत्र-शासनने इसको जन्म लेने और बढ़ानेका अवसर दिया, वैसा यहाँ कभी नहीं हुआ। परन्तु इससे यह समझ लेना ठीक नहीं है कि भारतमें कभी इस कलाका अस्तित्व ही न था। किसी न किसी रूपमें यह कला यहाँ अवश्य विद्यमान रही है। क्योंकि मनुष्यमें बोलनेकी शक्ति स्वाभाविक होती है, और इस शक्तिसे वक्तृत्व-कला का बड़ा घना संबंध है। अतएव जहाँ मनुष्योंकी बस्ती

हुई वहाँ यह भी किसी न किसी रूपमें अवश्य विद्यमान रही—इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

सभ्यताके लिये यूरोप भरमें यूनानका नाम सबसे पहले लिया जाता है। वहाँ भी जब वक्तृत्व-कलाका विकास नहीं हुआ था और डिमास्थेनीज़ जैसे सुवक्ता पैदा नहीं हुये थे, उस समय भी इस कलाका अस्तित्व प्रारंभिक-अवस्थामें था। प्राचीन यूनानके प्रसिद्ध कवि होमरने अपने इलियड नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें इस कलाके विषयमें बहुत कुछ लिखा है। यूनानके जिन प्राचीन शासकोंने ट्राई नगर पर आक्रमण किया था उनमें जूलियस प्रसिद्ध वक्ता था। इसके सिवा एक प्राचीन समयके शासकका भी होमरके ग्रन्थमें वर्णन है। इस शासकका नाम नेस्टर था; और इसकी वक्तृत्व-शक्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि जूलियस भी उसके सामने कुछ नहीं था। इन शासकोंमें जब कभी कलह और युद्ध होने लगता, तो यही नेस्टर अपने मधुर-भाषण और शान्ति-पूर्ण शिक्षासे इन्हें समझा दिया करता था। होमर ने अपने "इलियड" काव्यमें इसकी मधुर वक्तृताओंके अवतरण भी दिये हैं जिसमें यूनानकी आद्यवस्थाका चित्र बड़ी मार्मिकतासे खींचा गया है।

एशियामें चीन और भारतवर्ष प्राचीन देश हैं। इनमें से चीनने तो संसारमें कोई स्मरणीय कार्य नहीं किया; पर भारतवर्षके पास प्राचीन सभ्यताकी बहुत कुछ पूँजी मौजूद है। यह पूँजी चाहे इस बातके लिये काफ़ी न हो कि रूम और यूनानकी तरह यहाँ भी कभी वक्तृत्व-कलाने अपनी प्रौढ़ता दिखलाई हो; परन्तु इसमें कोई

सन्देह नहीं कि यूरोपकी सभ्यताके जन्मके पहले भी; भारत को इस कलाकी विद्यमानताका गौरव प्राप्त था। इसके बहुतसे प्रमाण हमारे महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि शायद इन ग्रन्थोंमें वक्तृताका अभिधेय वैसा न हो, जैसा कि आजकल पश्चिमीय सभ्यताने निर्धारित किया है; पर है अवश्य। यह भेद यहीं क्या, सब देशोंके साहित्य और प्रत्येक विषय में अनिवार्य है।

अब यह बात मान लेनी पड़ेगी कि प्रत्येक देशमें वक्तृत्व-कलाकी सत्ता किसी न किसी रूपमें विद्यमान होती ही है। क्योंकि इसको उपयोगमें लाने और बढ़ाने के साधन अन्य कलाओं की अपेक्षा बहुत सरल हैं। प्राकृतिक होनेके कारण, अति प्राचीन समयसे, इस कलाका संसारमें विद्यमान होना सिद्ध होता है; और यदि देखा जाय, तो इसका प्रयोग इतना सुलभ और व्यापक है कि प्रत्येक देश और प्रत्येक समयमें इसका उद्गत होना संभव जान पड़ता है। हाँ, इतना अवश्य है कि विद्वान् लोगोंमें यह कला नियमबद्ध और परिष्कृत होती है; और मूर्खोंमें, इसके विरुद्ध रूपमें प्रचलित होती है। जिन लोगोंने भिन्न २ विद्याओं और सभ्यतामें सामयिक गतिके अनुसार उन्नतिकी है वे चाहे प्राचीन समयमें हुये हों, या वर्तमानमें —उनकी वक्तृताओंमें शब्द-लालित्य, अर्थ-गौरव, उच्च उद्देश्य और मनोहर-वर्णन-शैली आदि गुण अवश्य पाये जायँगे। ये बातें अशिक्षित लोगोंके वाग्-व्यापारमें कदापि नहीं मिलेंगी। अशिक्षित लोगोंकी वाणी शुद्ध नहीं होती,

उनमें कटु शब्दोंकी अधिकता और विषय-संकरता पाई जाती है । पर, दोनों प्रकारके लोगोंमें वक्तृत्व-कलाका मुख्य आकर्षण अवश्य मिलेगा । इस आकर्षणसे किसी मनुष्यकी बोली शून्य नहीं है ।

भारतकी वक्तृत्व-कलाके सम्बन्धमें यह सामान्य प्रस्तावना हो चुकी । इसके बाद अब हम दूसरे वक्तव्य विषयका प्रतिपादन करते हैं ।

प्राचीन भारतवर्षमें यह कला किस रूपमें विद्यमान थी? इसकी पुष्टिके लिये हमारे पास कोई विशेष प्रमाण भले ही उपस्थित न हों, तथापि यह कहना अनिश्चित न होगा कि उस समयके लोगोंको भी इस विद्यासे प्रेम और लगाव था। आर्योंकी प्राचीनसे प्राचीन पुस्तकोंमें वाग्देवी सरस्वतीका वर्णन मिलता है, और हिन्दुओंका अबतक यह विश्वास है कि सरस्वती माताकी कृपाके बिना कोई मनुष्य वाग्पटु या वाग्मी नहीं हो सकता। इसी प्रकार देवताओंके आचार्य वृहस्पतिजी की ख्याति भी वाक-पटुताके ही कारण है। आजकल भी जब हम किसी व्यक्तिका मधुरभाषिताका सार्टिफिकट देना चाहते हैं, तो उसे वृहस्पतिकी उपाधि देते हैं; जैसे, "व्याख्यान-वाचस्पति" आदि । इसके अतिरिक्त वाग्मी, वक्ता, वाचस्पति आदि शब्दोंका प्रयोग, रामायण और महाभारत जैसी प्राचीन पुस्तकोंमें भी पाया जाता है जिससे सिद्ध होता है कि इस देशमें इस विद्याका केवल प्रचार ही न था, वरन उस समयके विद्वान् इस विषयमें धीरे २ उन्नति करते थे, और उक्त पदवियाँ प्राप्त करते थे ।

यह निर्विवाद है कि किसी समय आधुनि जगतके समस्त सभ्य देश अन्धकार और अप्रसिद्धिके आवर में छिपे हुये थे। उस समय भारतवर्ष ही एक ऐसा देश जो विविध विद्याओंके प्रकाशसे चमक रहा था। यहाँ लोगोंने आचार, धर्म, समाज, दर्शन, गणित. ज्योति आयुर्वेद, शिल्प आदि विषयोंमें ऐसी उच्च कोटि विज्ञता प्राप्तकी थी, जिस पर आज भी अभिमान किय जाता है। ऐसी दशामें यह संभव नहीं कि उन्होंने इ आवश्यक और प्राकृतिक विषयकी ओर ध्यान न दिया हो जिस समय यहाँ ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, चारवाक आदि धार्मिक शास्त्रार्थ वा न्याय, वैशेषिक और सांख्यके दार्श निक वाद बड़े समारोहके साथ होते थे, उस समय यह संभ नहीं कि यहाँ प्रसिद्ध वक्ता न रहे हों; क्योंकि इस विद्याके सहायताके बिना वे अपने कामको जारी ही नह रख सकते थे।

जिस समय यहाँ प्रेस अथवा दूसरे प्रकारके साध मौजूद नहीं थे, उस समय धार्मिक वादोंको प्रवृत्त रख और सर्वसाधारण पर उनका प्रभाव डालनेके लिये वक्तृता सिवाय और दूसरा कौनसा साधन हो सकता है निःसन्देह उस समय यहाँ वक्तृत्व-कलाका खूब ज़ोर था इसके प्रमाण कई प्रतिभाशाली महात्माओंके उपदेशों मिलते हैं। गौतम बुद्ध, कुमारिल, शङ्कर और संहत प्रभावशाली उपदेश इस देशमें उच्चकोटिकी वक्तृत्व-शक्ति का परिचय देते हैं। इन उपदेशों या शास्त्रार्थोंको हुए कोई दो हज़ार वर्ष से अधिक समय हुआ। इनके प्रभावसे

भारतवर्ष ही नहीं, बल्कि आधा एशिया प्रभावित होगया था। अब सोचनेकी बात है कि क्या ये बिना वक्तृत्व-शक्ति के ही होगये थे। यों तो इसी कला पर क्या निर्भर है, और भी कई कलाओंका आधार भारतके साहित्यमें नहीं मिलता। गानविद्या, नृत्यकला, चित्रकारी, विविध शिल्प आदि के विषयका भारतके प्राचीन साहित्यमें कोई स्पष्ट आधार नहीं है, तो क्या इससे यह मान लिया जाय कि यहाँ के निवासी इन विद्याओंसे अनभिज्ञ थे? जिस देशमें अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रम और भोज जैसे विद्यारसिक भूपाल हुये हों, जिस भूमिमें विश्वकर्मा और मय जैसे शिल्पकार; कपिल, व्यास और शङ्कर जैसे दार्शनिक; कालिदास, दंडी और श्रीहर्ष जैसे कवि और नाट्यकार उत्पन्न हुये हों—वहाँके निवासियोंका वक्तृत्व-कलासे अनभिज्ञ होना कैसे मान लिया जाय? इसके सिवा, यहाँका रामायण जैसा काव्य; शकुन्तला जैसा नाटक; मनु-स्मृति जैसी स्मृति; अष्टाध्यायी जैसा व्याकरण; दर्शन जैसा विज्ञान, और उपनिषद् जैसे आध्यात्मविद्याके निर्माण हुये मन्दिर स्पष्ट बतला रहे हैं कि यहाँके निवासी इस कलासे अवश्य परिचित थे। जहाँ ऐसे २ अपूर्व ग्रन्थ लिखे गये हों वहाँ के निवासियोंका इस कलासे अनभिज्ञ होना भला कैसे संभव हो सकता है? इतिहास भी, चाहे उससे नाम और समयका पता न चले; पर इतना अवश्य बतलाता है कि प्राचीन समयके आर्य लोग विविध विद्याओं और कलाओंके आविष्कारक थे और किसी २ विद्या या शाखा की तो उन्होंने ऐसी व्याख्याकी है कि जिसे इस विकासके

युगमें भी आश्चर्यकी दृष्टिसे देखा जाता है। ऐसी दशा यह संभव है कि वे जीवनोपयोगी आवश्यक और साधार- विषयोंसे अवश्य परिचित रहे होंगे। हाँ, यह हो सकता है कि सामयिक परिस्थितिके अनुसार, उनके अनुसंधानका फल आजकलके आविष्कारों से बिलकुल विलक्षण रहा हो; पर वे प्रसिद्ध आविष्कारक अवश्य थे इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब प्राचीन भारतवर्ष में वक्तृत्व-कला विद्यमान थी, तो अब उसका लोप क्यों होगया? इतिहास इसके विषयमें क्यों मौन है? इसका उत्तर यह है कि भारतवर्षकी सभ्यता तो बहुत पुरानी है पर जिन देशोंने पीछेसे उन्नति की उनकी शिल्प-विद्या और हस्तक्रियाके निदर्शन भी इस समय संसारमें नहीं मिलते। प्रकृतिका मुख्य गुण परिवर्तन है; और वह संसार को कभी किसी दशामें नहीं रहने देता। यूनान कभी चित्रकारीके लिये ऐसा प्रसिद्ध था कि बड़े २ देश उसकी बराबरी नहीं कर सकते थे। सिकन्दरके समयमें वहाँ आपलीज़ नाम एक प्रसिद्ध चित्रकार था। उसके विषयमें यूनानका इतिहास दो घटनाओंका उल्लेख करता है। एकतो यह कि एक बार सिकन्दर बादशाह उसकी चित्रशालामें गया। आपलीज़ने उसे चुने हुये और सर्वोत्तम चित्र दिखलाये। यद्यपि सिकन्दरको चित्रकारीसे कुछ अभिज्ञता नहीं थी, तथापि उसने प्रभुताके घमंडमें आकर उसके चित्रोंमें दोष निकाले। आपलीज़ने कहा, "मित्र, ज़रा धीरे बोलिए। उस ओर जो लड़के रङ्ग पीस रहे हैं वे आपकी बात सुनकर हँसेंगे।

सिकन्दर इस उत्तरको सुनकर बड़ा लज्जित हुआ। दूसरी घटना यह है कि एक बार सिकन्दरकी आज्ञासे आपलीज़ने उसके प्रसिद्ध घोड़ेका चित्र बनाया। यह चित्र ऐसा उत्तम और सर्वांङ्ग सुन्दर बना था कि उसमें केवल चेतना-शक्ति डालना ही शेष रह गया था; पर सिकन्दरने इसको भी नापसन्द किया और कई दोष बतलाये। तब आपलीज़ने कहा कि कृपा करके ज़रा अपने घोड़ेको यहाँ मँगवाइये। जब वह घोड़ा लाया गया, तो चित्रको देखते ही हिनहिनाने लगा। उस समय आपलीज़ने सिकन्दरसे कहा, "आपकी अपेक्षा आपके घोड़ेको चित्रकारीका विशेष ज्ञान है।"

इस प्रसिद्ध चित्रकारके बनाये हुये चित्र अब यूनानमें नहीं मिलते। इस प्रकार और भी अनेक कलाएँ हैं, जिनको समयके परिवर्त्तनने संसारसे मिटा दिया। यदि कुछ शेष भी रक्खा, तो ऐसे रूपमें कि जिससे उनके वास्तविक रूपका पता लगना कठिन ही नहीं, असंभव है। अतएव जिन लोगोंका काम थोड़ी देर तक जारी रहकर समाप्त हो जाने वाला है, उनका भावी संसारमें एकाएक कैसे पता लग सकता है? और, फिर उनके लिये ऐसे साधन उपस्थित नहीं किये गये कि जिनके द्वारा भावी संसारके सामने वे ज्यों के त्यों दृष्टिगोचर होते। ऐसी दशामें, उनके दृष्टि-पथमें न आनेसे ही यहाँ समझ लेना कि अमुक कार्यकी सत्ता अमुक देशमें न थी, कहाँ तक युक्तिसङ्गत हो सकता है।

यही दशा वक्तृत्व-कलाकी भी है। पहले तो जबतक संक्षिप्त-लेखन-प्रणाली यूरोपमें प्रचलित नहीं हुई

थी, तबतक यहाँ भी बड़े २ नामी वक्ताओंकी वक्तृताएँ उसी समय तक अपना असर रखती थीं, तबतक लोगोंके हृदयोंमें उनका प्रभाव रहता था। पश्चात्, वे भी विस्मृति के विस्तृत गर्भमें सदाके लिये छिप जाती थीं। दूसरे, कोई २ वक्तृताएँ ऐसी होती हैं कि उनकी विशेषता और रमणीयता किसी विशेष अवसर पर, किसी कारणसे ही, सम्बन्ध रखती है। जब वह कारण मिट जाता है, तो उनमें भी भद्दापन आ जाता है। फिर कुछ दिनोंके बाद, किसी दूसरे अवसर पर यदि वही वक्तृता सुननेमें आवे, तो फीकी और भद्दी मालूम होती है।

साधारण वक्तृताकी तो बात ही क्या है, बड़े २ प्रसिद्ध वक्ताओंकी अवसर विशेषकी प्रभावशालिनी वक्तृताएँ भी यदि आज पढ़ी जायँ, तो उनमें कुछ भी आनन्द नहीं आता। इङ्गलैंडके प्रसिद्ध वक्ता शेरीडैनका कुछ वर्णन ऊपर हो चुका है। इसने बेगमोंके विषयमें बड़ी प्रभावशालिनी वक्तृताएँ दी थीं, जिन्होंने श्रोताओं पर जादू का सा प्रभाव डाला था; और जिनकी प्रशंसा वक्तृत्व-कला-शिरोमणि स्वयं फाक्सने की थी। पर वही वक्तृताएँ यदि आज पढ़ी जायँ, तो उनमें कोई नई बात नहीं मालूम होती और न कुछ आनन्द ही आता है। इसी प्रकार डिमास्थेनीज़की कुछ वक्तृताएँ भी आज फीकी मालूम होती हैं। वैसे तो वह यूरोपमें इस कलाका आविष्कारक माना जाता है और उसकी कुछ वक्तृताएँ बड़ी ही प्रभावशालिनी हुई थीं; परन्तु उन वक्तृताओंको छोड़कर शेष सब इस रूखी और भद्दी जान पड़ती है।

इसका कारण यह है कि जिस प्रकार ठंडा और बासा होजाने पर उत्तम से उत्तम भोजन भी नीरस होजाता है, भूखमे चाहे उसे भी खा ले; पर जैसा सद्यःपक्व भोजनमें सबकी अभिरुचि होती है, वैसी उसमें नहीं होती। इसी प्रकार किसी विशेष अवसर पर, विशेष कारणोंकी उपस्थिति में दी हुई वक्तृताएँ, चाहे वे मनोहर और चित्ताकर्षक भले ही हुई हों, पीछेसे वैसी रोचक नहीं लगतीं। अवसर विशेष पर वक्तृताओंका जैसा प्रभाव पड़ता है वैसा पीछे नहीं रहता।

इसके सिवा, वक्तृताको स्वयं सुननेमें और उसे पढ़नेमें बड़ा अन्तर हो जाता है। नामी वक्ताओंकी वक्तृतामें यह अन्तर और भी अधिक होता है; क्योंकि केवल खड़े होकर बोल देने का ही नाम वक्तृता नहीं है, किन्तु वक्ताका उच्चःस्वर, मनोहर ढङ्ग, शब्दोंका उतार-चढ़ाव, प्रसङ्ग विशेष पर उत्तेजना, यथावसर अङ्ग-विक्षेप, आकृतिसे हृदयके भावोंका प्रकाश करना इत्यादि गुणोंके समुच्चयका ही "वक्तृता" कहते हैं। इसके अतिरिक्त, स्थानकी सजावट, दर्शकों की सजधज, श्रोताओंके मौन और औत्सुक्यसे प्रभावित हृदय पर वक्तृता का जो प्रभाव पड़ता है वह काग़ज़ पर लिखे हुये अक्षरोंका कदापि नहीं पड़ सकता।

संभवतः इसी [illegible] प्राचीन समयकी वक्तृ-ताओंको [illegible] [illegible]। और फिर, उस [illegible] लेख को लिखने [illegible] था वह भी कुछ

कम नहीं था। आजकल प्रेस होनेके कारण, हमको विशेष कठिनाई मालूम नहीं पड़ती, केवल एक बार कापी कर देने और अक्षर जोड़ देनेसे बातकी बातमें हजारों प्रतियाँ तैयार हो जाती हैं। यह बात उस समय न थी। एक पुस्तक को लिखनेमें कई वर्ष लग जाते थे; और फिर भी एक ही प्रति तैयार होती थी। इन कठिनाइयों के कारण, उस समयके लोग वक्तृताओंको तो क्या, और भी बहुतसी आवश्यक बातोंको नहीं लिख सकते थे। यही कारण है जो आज उनका कुछ पता नहीं मिलता।

यूनान और रूमकी भाँति यदि इतिहास लिखने का प्रचार यहाँ भी होता, तो इतना पता तो अवश्य ही लगता कि अमुक समयमें, अमुक अवसर पर, अमुक मनुष्यने अमुक वक्तृता दी थी, अथवा और कोई काम किया था। पर शोककी बात है कि प्रामाणिक इतिहासके अभावमें यह भी नहीं बताया जा सकता। केवल अनुमानसे ही यहाँ वक्तृत्व-कलाका अस्तित्व होना मान लिया जाता है। परन्तु अनुमान भी निर्बल प्रमाण नहीं होता। जैसे पुराने खंडहरों को देखकर हम अनुमान करते हैं कि यहाँ कभी नगर रहा होगा, जङ्गलमें राख और कोयलोंके ढेर देखकर इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यहाँ कभी आग लगी होगी, भूमिकी दरारों और मकानोंको नीचे धँसा हुआ देखकर निश्चय करते हैं कि यहाँ कभी भूकम्प आया होगा, उसी प्रकार यहाँकी वक्तृत्व-कलाके विषयमें अनुमान करना अनुचित नहीं हो सकता। ये प्रत्यक्ष प्रमाण भले ही न हों, प ऐसे बलवान प्रमाण हैं कि जिन्हें कोई बुद्धिमान्

नुष्य अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिस रतका धर्म लगभग आधे एशियामें फैला हुआ हो; और जिसने उस समयमें, जब कि पृथ्वीके और देश निविड़ अंधकारमें पड़े हुये थे, विविध विद्याओं और कलाओंमें उन्नतिकी हो, और ऐसे काम किये हों कि जिनपर बीसवीं शताब्दीमें भी अभिमान किया जावे, यह संभव नहीं हो सकता कि वहाँ वक्तृत्व-कला या अन्य कलाओंका—जो मानुषिक जीवनकी आवश्यकताओंसे सम्बन्ध रखती हैं—अस्तित्व या प्रचार न रहा हो। हाँ, यह बात दूसरी है कि वे वर्तमान रूपमें न रही हों; या उनका प्रयोग भिन्न रीति पर किया जाता रहा हो; पर उपरोक्त प्रमाणोंसे उन का यहाँ विद्यमान होना मान लेना पड़ता है।

कम नहीं था। आजकल प्रेस होनेके कारण, हमको विशेष कठिनाई मालूम नहीं पड़ती, केवल एक बार कापी कर देने और अक्षर जोड़ देनेसे वातकी बातमें हज़ारों प्रतियाँ तैयार हो जाती हैं। यह बात उस समय न थी। एक पुस्तक को लिखनेमें कई वर्ष लग जाते थे; और फिर भी एक ही प्रति तैयार होती थी। इन कठिनाइयों के कारण, उस समयके लोग वक्तृताओंको तो क्या, और भी बहुतसी आवश्यक बातोंको नहीं लिख सकते थे। यही कारण है जो आज उनका कुछ पता नहीं मिलता।

यूनान और रूमकी भाँति यदि इतिहास लिखने का प्रचार यहाँ भी होता, तो इतना पता तो अवश्य ही लगता कि अमुक समयमें, अमुक अवसर पर, अमुक मनुष्यने अमुक वक्तृता दी थी, अथवा और कोई काम किया था। पर शोककी बात है कि प्रामाणिक इतिहासके अभावमें यह भी नहीं बताया जा सकता। केवल अनुमानसे ही यहाँ वक्तृत्व-कलाका अस्तित्व होना मान लिया जाता है। परन्तु अनुमान भी निर्बल प्रमाण नहीं होता। जैसे पुराने खंडहरों को देखकर हम अनुमान करते हैं कि यहाँ कभी नगर रहा होगा, जङ्गलमें राख और कोयलोंके ढेर देखकर इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यहाँ कभी आग लगी होगी, भूमिकी दरारें और मकानोंको नीचे धँसा हुआ देखकर निश्चय करते हैं कि यहाँ कभी भूकम्प आया होगा, उसी प्रकार यहाँकी वक्तृत्व-कलाके विषयमें अनुमान करना अनुचित नहीं हो सकता। ये प्रत्यक्ष प्रमाण भले ही न हों, तथापि ऐसे बलवान प्रमाण हैं कि जिन्हें कोई बुद्धिमान्

मनुष्य अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिस भारतका धर्म लगभग आधे एशियामें फैला हुआ हो; और जिसने उस समयमें, जब कि पृथ्वीके और देश निविड़ अंधकारमें पड़े हुये थे, विविध विद्याओं और कलाओंमें उन्नतिकी हो, और ऐसे काम किये हों कि जिनपर बीसवीं शताब्दीमें भी अभिमान किया जावे, यह संभव नहीं हो सकता कि वहाँ वस्तृत्य-कला या अन्य कलाओंका—जो मानुषिक जीवनकी आवश्यकताओंसे सम्बन्ध रखती हैं—अस्तित्व या प्रचार न रहा हो। हाँ, यह बात दूसरी है कि वे वर्तमान रूपमें न रही हों; या उनका प्रयोग भिन्न रीति पर किया जाता रहा हो; पर उपरोक्त प्रमाणोंसे उन का यहाँ विद्यमान होना मान लेना पड़ता है।

(२) वाणीका महत्त्व।

मनुष्य चाहे संसारके सारे काम सीख जाय और सब बातोंमें निपुण होकर बड़ा पंडित क्यों न हो जाय; परन्तु जबतक उसमें बोलनेकी शक्ति जागृत नहीं होगी, अर्थात् जबतक उसे जैसा चाहिये वैसा बोलना नहीं आवेगा, तबतक उसके सारे गुण किसी काम नहीं आयेंगे। बोलनेकी आवश्यकता प्रत्येक अवसर पर पड़ा करती है। प्रायः कोई भी अवसर ऐसा नहीं जब बोलनेके बिना काम चल जाता हो। अतः जबतक बोलना नहीं आवेगा, मनुष्यके सद्गुणोंका विकास किसी प्रकार नहीं हो सकता; और जबतक गुण विकसित नहीं होते, मनुष्य अपने तथा दूसरोंके कामोंमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये मानना पड़ेगा कि प्रत्येक मनुष्यमे बोलनेकी शक्ति जागृत होना एक आवश्यक बात है।

जिस मनुष्यमें दूसरों पर अपना प्रभाव डालनेकी शक्ति होती है वह मनुष्यत्वका सच्चा उपयोग कर सकता है। नैसर्गिक अथवा अर्जित गुण चाहे जितने उत्तम हों; पर उन की परीक्षा इसी शक्तिसे हो सकती है। श्रेष्ठ गुण वही है जो दूसरों पर प्रतिबिम्ब डालकर अपना प्रभाव जमा सके। शारीरिक शक्ति, द्रव्य और विद्या वास्तवमें उत्तम हैं; पर ये दूसरों पर अपना प्रभाव डालनेमें सम्पूर्णतया उपयुक्त नहीं

हो सकते। हाँ, सदुपयोगसे तो समर्थ हो सकते हैं। जबतक इनका सदुपयोग नहीं किया जाता, तबतक इनका होना न होना बराबर है; और प्रकट किये बिना इनका उपयोग हो नहीं सकता। सब बातें अनुकूल होने पर भी उनका प्रभाव दूसरों पर न पड़े, तो उनका अस्तित्व व्यर्थ ही समझना चाहिये। महान् सद्गुणोंका भंडार होने पर भी उसका प्रभाव उत्तम स्थान पर न डाला जाय, तो जीवन निरुपयोगी हो जाता है; और प्राप्तकी हुई सब शक्तियाँ निस्तेज हो जाती हैं। दूसरेके मनको खींच लेनेकी शक्तिके समान और कोई शक्ति अमूल्य नहीं है; अतः मनुष्य-मात्रमें इस शक्तिका होना परमावश्यक है।

दूसरेका भलाबुरा करनेका अधिकार यदि हाथमें हो, तो उसका सदुपयोग शुद्ध मनसे करना चाहिये। दूसरे की स्वेच्छाचारिताको रोककर उसके मनको अपनी तरफ खींचना और अपनी इच्छाके अनुसार चलाना इत्यादि गुण स्तुत्य हैं। इन गुणोंको प्राप्त करनेके लिये रातदिन परिश्रम नहीं करना पड़ता। ये प्रत्येक मनुष्यमें स्वाभाविक रीतिसे किसी न किसी अंशमें रहा ही करते हैं। केवल इनका सदुपयोग बड़े विचारके साथ करना चाहिये। इन गुणोंका पूर्ण विकास करनेवाला मनुष्य सच्चा वक्ता हो सकता है; और उसमें, दूसरेके मनको अपनी तरफ़ खींच लेनेकी शक्ति होती है। एमर्सन नामके एक प्राचीन कविने कहा है, "वक्तृत्व शक्ति सारी दुनियाँकी राज-कर्त्री है।" विशेषकर इसी शक्तिकी सहायतासे सब समयमें सब राष्ट्रोंके सुयंत्र चलते आये हैं। संसारका प्रत्येक इतिहास यदि जाँचा जाय, तो

इसमें वक्तृत्व-शक्तिका प्रभाव अवश्य दिखाई देगा। अतः मानना पड़ेगा कि जगतका इतिहास वक्तृत्व-कलाके ऊपरसे बनाया गया भाष्य है। जो मनुष्य इतिहास-प्रसिद्ध हो गये हैं, वे विशेषकर वक्तृत्व-कलाके सेवनसे ही हुए हैं; और इसी के बल पर, वे चारों ओर देशाभिमानकी अग्नि जलाकर जन-समुदायमें उत्साह उत्पन्न करने वाले गिने गये हैं। उन्हींके प्रयत्नसे तत्कालीन राज्योंमें से घोर अत्याचार सदा के लिये निकल गया था; और शुद्ध राजनीति सर्वत्र फल गई थी। वे ही स्वधर्मको जागृत करने वाले और धर्मांधता मिटाने वाले माने गये हैं। समय २ पर उन्होंने कई झगड़े उठाये और मिटाये। यह सब उन्होंने वक्तृत्व-शक्तिके प्रभावसे किया था। यद्यपि कर्त्ताकी अपेक्षा वक्ताका महत्त्व कम गिना जाता है, तथापि समय २ पर वक्ता कितने ही महत्त्वके काम कर दिखाता है। वक्ता यदि उत्साही न हो, तो कर्त्ताओंके हाथसे कुछ भी काम नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, वे काम करनेका विचार तक अपने मनमें नहीं लाते। "सबसे भली चुप"—यह कहावत वक्तृत्वके साथ सम्बन्ध नहीं रखती। हाँ, किसी २ प्रसङ्गमें यह अवश्य लागू होती है; तौभी कर्त्ताकी अपेक्षा बोलने वालेकी विशेषता अधिक दिखाई देती है। कीर्त्ति वक्तृत्व-शक्तिकी सहचारिणी है। जो वक्ता अपनी वक्तृत्व-शक्तिके बलपर दूसरों के अन्तःकरण पर अपना प्रभाव डाल सकता है वही महान् कीर्त्ति संपादन कर सकता है; और उसीका नाम संसारमें अमर रहता है।

प्रसन्न अन्तःकरणसे, जो तीव्र परिश्रम करने पर

भी, अधिक अधिक परिश्रम करनेकी उत्सुकता रहती है। शक्तिके साथ कीर्तिका विशेष सम्बन्ध है। कवियोंकी कल्पना है कि कीर्तिके बिना शक्ति निरर्थक होती है। इसी प्रकार वक्ताके महान् परिश्रमका फल कीर्ति है; और इससे उसकी योग्यताकी अपेक्षा विशेष मान मिलता है। इसके कई कारण हैं। उनमें से प्रधान यह है कि "वक्ता दशसहस्रेषु"—इस कहावतके अनुसार दश हजारकी संख्या में हम एक ही वक्ताको देखते हैं। अर्थात्, १० हजार श्रोताओंकी आँखें एक ही वक्ताकी ओर खिंची रहती हैं,— इससे वक्ताका महत्व विशेष मालूम होता है; और उसमें विशेष योग्यता न होने पर भी लोग उसको आपसे आप मान देते हैं। इसलिये वक्तृत्व-कला एक प्रकार मान देने वाली कला है जिससे कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है।

उपरोक्त कथनकी पुष्टिके लिये यहाँ वक्तृत्व-कला का थोड़ासा स्वरूप बतलादेना ठीक होगा। वक्तृत्व-कला के विषयमें लोगोंके ऐसे विचित्र विचार हैं कि वैसे शायद ही ही किसी और विषयके सम्बन्धमें होंगे। इसीलिये जनसमाज में वक्तृत्व-विद्याका जैसा चाहिये वैसा आदर आजतक नहीं हो पाया। आज भी यदि साधारण ज्ञान वाले मनुष्यके सामने वक्तृत्व-कलाकी बातें कही जायँ, या उसमें के सद्गुणोंकी प्रशंसाकी जाय, तो वह इस ओर पूरा ध्यान न देगा; और दूरही से इसमें उदासीनता दिखावेगा। सारांश यह कि ऐसे मनुष्य इस विद्याको जालमें फँसाने वाली विद्या समझते हैं। पर वास्तवमें यह बात नहीं है। यह विद्या तो निर्बल मतिको सबल बनाने वाली है। इसके बिना

संसारका काम नहीं चल सकता; इसलिये ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकारके लोगोंको इसकी ओर खूब लक्ष्य रखना चाहिये। प्रसङ्गानुसार उत्तम रीतिसे बोलना—वक्तृत्व-कलाका विशेष अभिप्राय है। अपने पास कोई चीज़ न हो, और उसके लिये बोलना पड़े तथा बोलनेसे वह प्राप्त हो जाय,—इस प्रकारके संभाषणकी जो शैली है वही वक्तृत्व शब्दकी उत्तम व्याख्या है। हम जब कुछ बोलना या लिखना चाहते हैं, तो हमारे मनमें कुछ न कुछ हेतु अवश्य होता है। उस हेतुको भलीभाँति व्यक्त करना और उसे सीधी, सरल तथा शुद्ध भाषामें दूसरोंको समझाकर उसे सिद्ध करना —यही-वक्ताके विशेष लक्षण है।

वक्तृत्व-कला ऐसी-वैसी कला नहीं है। यह श्रोताओंसे शुभ कार्य करानेवाली और उनको सत्पथ पर लगाने वाली कला है। पहले तो यह श्रोताओंका मनोरंजन करती है; और फिर उनको प्रसन्न चित्तसे कार्यमें प्रवृत्त करती है। सच्चा श्रोता इसके द्वारा एक बार जब काममें लग जाता है, सत्पथ पर अग्रसर होने लगता है और अपने कर्त्तव्यको समझने लग जाता है, तब फिर वह कभी पश्चात्पद नहीं हो सकता।

यह बात तो स्पष्ट हो है कि उत्तम वक्ताकी वक्तृताका उत्तम प्रभाव पड़ता है; और बुरेकी वक्तृताका बुरा। सब भले और बुरेकी परीक्षा श्रोताओंको स्वयं करके उत्तम वक्ताकी वक्तृतासे लाभ उठाना चाहिये। इतने पर भी यह कला बिल्कुल निर्दोष है। दोष है इसका उपयोग करनेवालोंमें। कूड़े-कचरेमें मिल जानेसे हीरेका

मोल नहीं घट जाता। मनुष्यकी वाणीका हीरा बनानाही तो बहुमूल्य-कैसा है। जब मनुष्यकी ज़बान एक बार हीरा बनगई, फिर उसका कुछ मोल ही नहीं—वह अमूल्य है। रस और विष दोनों इस बोलीमेंही हैं। जिस वक्ताकी बोली से रस बरसेगा उसे सब कोई उत्तम कहेगा और उसके अनुसार चलकर अपनेको सुधारेगा; और, जिसकी भाषामें विषैले शब्द रहेंगे, वे चाहे शिक्षा-पूर्णही क्यों न हों, उनको कोई माननेको तैयार न होगा।

वाणीमें बड़ी अद्‌भुत शक्ति है। इसका महत्व कहा नहीं जा सकता। वाणी बातकी बातमें बड़े २ अलौकिक काम करा देती है। रूमके प्रसिद्ध नेता सीज़रको वध-योग्य सिद्ध करनेके लिये जब ब्रूटसकी वक्तृता हुई, तब जैसे वायुके आघातसे समुद्रकी लहरें उमड़ने लगती हैं वैसेही श्रोताओंके मन उछलने लगे; और उनको निश्चय होगया कि सीज़रका वध एक अत्यंत उचित कार्य है; क्योंकि वह रोमन जातिकी स्वतन्त्रता छीनना चाहता है। ऐसे दुष्ट पर अत्याचार होना कोई अन्याय नहीं। इसके कुछ दिनों बाद, इसी विषय पर, जब आंटिनीकी वक्तृता हुई, तो उसे सुनते ही लोगोंके विचार एकदम बदल गये। जो लोग सीज़रपर अपना क्रोध और द्वेष प्रकट कर रहे थे, और उसकी हत्या पर हर्ष मना रहे थे, वे ही अब उसके हत्यारों और हत्याकी पुष्टि करनेवालों पर दाँत पीसने लगे। अभिप्राय यह है कि वाणीमें बड़ी भारी शक्ति होती है, और इसका महत्व अकथनीय है।

---

(३) वक्ता के स्वाभाविक गुण।

जन्मही से मनुष्यकी बुद्धिमें एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति होती है जो शिक्षा आदि साधनोंके द्वारा कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। यही बात वक्तृत्व शक्तिके लिये है। श्रोताओंके सन्मुख व्याख्यान देना कोई हँसी-खेल नहीं है। इसके लिये वक्तामें पहलेही से इस शक्तिका विकाश होना चाहिये। श्रेष्ठ वक्ता होनेके लिये वक्तामें कई स्वाभाविक गुणोंका होना ज़रूरी है। इनके बिना वह श्रेष्ठ वक्ताकी पदवी नहीं पा सकता।

अब वक्तामें कौन २ से स्वाभाविक गुण होने चाहिये—इसका वर्णन संक्षेपमें किया जाता है।

(१) तीव्र सहृदयता।

वक्ताका यह ख़ास गुण है। यह गुण यदि वक्ताके हृदयमें चित्रित रहेगा, तो वह श्रोताओं पर अपने व्याख्यानका प्रभाव खूब डाल सकेगा, और उसे कुछभी कठिनाई मालूम नहीं होगी। इस गुणकी सहायतासे वह समयोचित विषयमें किन २ तत्त्वोंकी आवश्यकता है—यह बात भलीभाँति जान लेगा; और उसके चित्तमें हजारों कल्पनाएँ उठने पर भी वह घबरावेगा नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि उन कल्पनाओंको अन्तःकरणसे मिलान करके अपने उत्तम विचारोंको उत्तम प्रकारसे श्रोताओंके सामने रख सकेगा।

इस गुणको रखकर वक्ता श्रोताओंको जिस मार्ग पर ले जाना चाहेगा उसी पर सहज हीमें चला सकेगा; और श्रोता आनन्दसे वह मार्ग अवलम्बन कर लेंगे। यदि वक्ता चाहेगा, तो वह समाजका मन आनन्दित कर देगा, या भड़का देगा। ऐसे मनुष्य वक्ता ही बननेके योग्य है—शिक्षक बननेके योग्य नहीं। कभी २ वक्ता अपने बुद्धि-बलकी अपेक्षा चुटकुलों और विविध उदाहरणोंसे भी श्रोताओंका मन आकर्षित कर लेता है। इसका कारण केवल सहृदयता है। सहृदयतासे जो बात बारम्बार कही जायगी वही श्रोताओंको अरुचिकर मालूम नहीं होगी; और उसीसे वक्ता और श्रोता दोनोंको आनन्द मिलेगा। ऐसे वक्ताओंके व्याख्यान रसात्मक होते और उनमें कवित्व-शक्तिका आभास होता है। श्रोताओंके अन्तःकरणको जानकर उसीके अनुसार भाषण देनेसे वक्ता श्रोताओंपर अपना पूरा प्रभाव डाल सकता है। जो केवल अपनी कल्पना-शक्तिके बलपर स्वयं आनन्द पानेके लिये बोलता है वह समाजका कुछभी उपकार नहीं कर सकता। सहृदय वक्ता सूक्ष्म बातको ज्योंका त्यों रखकर या उसके बीचमें रूपक, उदाहरण आदि देकर श्रोताओंका मन आकर्षित कर लेता है। सहृदयताको अच्छी तरहसे जागृत रखनेके लिये वक्ताको सदैव सावधान रहना चाहिये; और इसीके साथ कल्पना या रूपक गुणोंकी साधना भी उसमें अवश्य होनी चाहिये। निर्धारित विषयपर यदि व्याख्यान देना हो, तो पहले ही उस विषयको खूब सोच विचारकर उसके सब अंग अपने हृदयपर अङ्कित कर लेना चाहिये। इससे व्याख्यान देते समय वे सब ज्योंके त्यों हृदय

हो सकेंगे; और उनसे श्रोताओंपर खूब प्रभाव पड़ेगा।

(२) कुशाग्र बुद्धि।

सहृदयतामे मिलता-जुलता ही यह गुण है। प्रतिपाद्य विषयके संबंधमें जो बातें मालूम हों उनका कल्पना-शक्तिकी सहायतासे सूक्ष्म विचार करना, और उनको "अमृत-वर्षा" की तरह श्रोताओं पर डालना—यह कुशाग्र बुद्धिका पहला काम है। इस शक्तिकी सहायतासे रूपान्तर होकर अन्तःकरणमें जो एक निश्चयात्मक विचार करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है उसे ही बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि मनुष्य-मात्रमें क्षणिक रूपमे उत्पन्न होती है; पर उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनेसे वह परिपक्व हो जाती है। बुद्धि मनुष्यमें मूलसे है। परन्तु उसी पर संतोष रखकर नहीं बैठ रहना चाहिये, उसकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्यकी बुद्धिका प्रकाश केवल उसकी विचार-शैलीसे प्रकट होता है। विचारोंकी उत्तमता विशेष रूपमे होनी चाहिये। पहलेही से वक्ताके विचार यदि उत्तम होंगे, तो विषय-विभाग करने, व्याख्यान देने और उन पर सोचने-विचारने से, वे और भी उन्नत होते जायँगे। इसके लिये वक्ताकी बुद्धि खूब तेज़ होनी चाहिये; क्योंकि वक्तृत्व-विषयका मनन करने में बुद्धिका जितना उपयोग किया जावेगा, उतनाही वह विषय उत्तम ठहरेगा; और उसको समझनेमें श्रोताओंको तनिक भी कठिनाई नहीं मालूम होगी।

(३) तारतम्य-ज्ञान।

यह ज्ञान वक्ताके लिये बहुत उपयोगी है।

पदार्थके गुणादि समझकर उसके अनुसार उपचारादि करने का जो बुद्धि-कौशल है उसको तारतम्य-ज्ञान कहते हैं। वक्ताको तारतम्य-ज्ञानकी पग २ पर आवश्यकता पड़ती है। भाषणमें किस विषयको कहना, किस विषयको छोड़ देना, शब्दोंकी रचना कैसी करना, कैसे अलंकार सभाके सामने उपस्थित करना—आदिका विचार करना वक्ताको तारतम्य-ज्ञानसे मालूम हो जाता है। इसलिये प्रत्येक वक्ताको तारतम्यज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

(४) उत्साह तथा मनकी लगन ।

इस गुणकी भी वक्ताको बड़ी आवश्यकता है। सबल और ज़ोरदार प्रमाण देते हुए अन्तःकरणकी लगन दिखानेसे बहुत काम होता है। कई बार श्रोताओंकी मनोवृत्तियाँ वक्ताकी बुद्धिकी अपेक्षा अधिक प्रबल होती हैं; और उन को अपनी ओर खींचनेके लिये वक्ताको बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऐसी दशामें उसके अन्तःकरणकी प्रफुल्लता बड़ा काम देती है। एक बार एक वक्ताने प्रधान करुणारसी नाटककारसे पूछा, "आपके नाटककी सब बातें मृगजलके समान होने पर भी, सब दर्शक उनपर लट्टू हो जाते हैं; और कई बार उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगती है। और, उन्हीं लोगोंके सामने मैं ऐहिक तथा पारमार्थिक जैसे महत्वके विषयों पर व्याख्यान देता हूं, तो भी उनपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। मेरा व्याख्यान वे अरण्यरोदनके समान टाल देते हैं। इसका क्या कारण है?" यह सुनकर नाटककारने चतुराईसे उत्तर दिया, "प्रफुल्लता और अन्तःकरण की सच्ची लगनके बिना सब व्यर्थ है। आप जो व्याख्यान,

हो सकेंगे; और उनसे श्रोताओंपर ख़ूब प्रभाव पड़ेगा।

(२) कुशाग्र बुद्धि।

सहृदयतासे मिलता-जुलता ही यह गुण है। प्रतिपाद्य विषयके संबंधमें जो बातें मालूम हों उनका कल्पना-शक्तिकी सहायतासे सूक्ष्म विचार करना, और उनको "अमृत-वर्षा" की तरह श्रोताओं पर डालना—यह कुशाग्र बुद्धिका पहला काम है। इस शक्तिकी सहायतासे रूपान्तर होकर अन्तःकरणमें जो एक निश्चयात्मक विचार करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है उसे ही बुद्धि कहते है। यह बुद्धि मनुष्य-मात्रमें क्षणिक रूपसे उत्पन्न होती है, पर उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनेसे वह परिपक्व हो जाती है। बुद्धि, मनुष्यमें मूलसे है। परन्तु उसी पर संतोष रखकर नहीं बैठ रहना चाहिये, उसकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्यकी बुद्धिका प्रकाश केवल उसकी विचार-शैलीसे प्रकट होता है। विचारोंकी उत्तमता विशेष रूपसे होनी चाहिये। पहलेही से वक्ताके विचार यदि उत्तम होंगे, तो विषय-विभाग करने, व्याख्यान देने और उन पर सोचने-विचारने से, वे और भी उन्नत होते जायँगे। इसके लिये वक्ताकी बुद्धि ख़ूब तेज़ होनी चाहिये; क्योंकि वक्तृत्व-विषयका मनन करने में बुद्धिका जितना उपयोग किया जावेगा, उतनाही वह विषय उत्तम ठहरेगा; और उसको समझनेमें श्रोताओंको तनिक भी कठिनाई नहो मालूम होगी।

(३) तारतम्य-ज्ञान।

यह ज्ञान वक्ताके लिये बहुत उपयोगी है।

पदार्थके इत्यादि समझकर उसके अनुसार व्यवहारादि करने का जो बुद्धि-कौशल है उसको तारतम्य-ज्ञान कहते हैं। वक्ताको तारतम्य-ज्ञानकी पग २ पर आवश्यकता पड़ती है। भाषणमें किस विषयको कहना, किस विषयको छोड़ देना, शब्दोंकी रचना कैसी करना, कैसे अलंकार सभाके सामने उपस्थित करना — आदिका विचार करना वक्ताको तारतम्य-ज्ञानसे मालूम हो जाता है। इसलिये प्रत्येक वक्ताको तारतम्यज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

(४) उत्साह तथा मनकी उमंग।

इस गुणकी भी वक्ताको बड़ी आवश्यकता है। सबल और ज़ोरदार प्रभाव देते हुए अपने कामको सफल दिखानेमें बहुत काम होता है। कई बार श्रोताओंकी मनोवृत्तियाँ वक्ताकी बुद्धिकी अपेक्षा अधिक प्रबल होती हैं; और उन को अपनी ओर खींचनेके लिये वक्ताको बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऐसी दशामें उसके अन्तःकरणकी प्रफुल्लता बड़ा काम देती है। एक बार एक वक्ताने प्रधान कलाकारसे नाटककारसे पूछा, " आपके नाटककी सब बातें मृगजलके समान होने पर भी, सब दर्शक उसपर लट्टू हो जाते हैं; और कई बार उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है। और, उन्हीं लोगोंके सामने मैं ऐहिक तथा पारमार्थिक जैसे महत्त्वके विषयों पर व्याख्यान देता हूं, तो भी उनपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। /मेरा व्याख्यान वे अरण्यरोदनके समान टाल देते हैं। इसका क्या कारण है? " यह सुनकर नाटककारने चतुराईसे उत्तर

की सही .

देते हैं वे सच्चे होने पर भी, लोगोंको बनावटी मालूम होते हैं; और हमारे झूठे नाटक हमारे प्रयोग-चातुर्यसे उनको सच्चे जँचते हैं। यह केवल अन्तःकरणकी लगनकी बात है, और कुछ नहीं। हम नाटक बतानेमें सच्चे अन्तःकरणसे प्रयत्न करते हैं, आप वैसा नहीं करते। इसीसे आपके भाषणको कोई पसन्द नहीं करता।"

इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे नाटकके पात्र विविध भाँतिके रूप बना २ कर रङ्गभूमिपर आते हैं, और पहलेके स्वरूपको थोड़ी देरके लिये बिलकुल भूलकर नये स्वरूपमें खूब निमग्न हो जाते हैं, वैसाही वक्ताको भी करना चाहिये। यह बात दूसरी है कि वक्ताको स्वाँग बनानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती; पर इतना अवश्य है कि उसको अपनी अन्तःकरणकी लगनसे बार २ अवस्था बदलनी पड़ती है; और अङ्ग-विक्षेप आदिसे श्रोताओंको मुग्ध करना पड़ता है। तब कहीं श्रोताओंपर उसकी वक्तृताका प्रभाव पड़ता है। वक्ताका अन्तःकरण श्रोताओंके अन्तःकरणकी अपेक्षा पहलेही से अधिक पिघला हुआ होना चाहिये; और उसे अपनी सच्ची प्रसन्नता अङ्ग-विक्षेप द्वारा श्रोताओंको बतानी चाहिये। इतनी ही नहीं, वरन अन्तःकरणमें जितनी प्रसन्नता हो उससे कई गुनी अधिक प्रसन्नता उसे प्रकट करना चाहिये। ऐसा करनेसे सारा श्रोतृ-समाज उसके वशीभूत हो जावेगा; और उसे खूब मान मिलेगा।

सच्चे वक्ता अपने अन्तःकरणकी लगनके बिना खड़े होकर एक शब्द भी नहीं बोलते; और इस नियमका पालन करनेसे ही वे प्रसिद्ध होते हैं। उनका स्वभाव

पड़ जाता है कि जब वे बोलनेको खड़े होते हैं, तो तन, मन, धन—सर्वस्व उसीको समझकर बोलते हैं; और इस प्रकार वाग्-बलसे लोगोंको तल्लीन कर देते हैं ।

(५) तीव्र-कल्पना-शक्ति ।

वक्ताकी कल्पना-शक्ति ख़ूब तेज़ होनी चाहिये; क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो वक्ता तुरन्त किसी अवसर पर बोलते समय यह स्थिर नहीं कर सकता कि यहाँ मुझे क्या कहना चाहिये। वक्ताकी कल्पना-शक्ति तीव्र होनेसे वह पहलेसे किये हुए अपने विचार श्रोताओंके सामने ज्यों के त्यों रख सकता है; और विचारोंका सिलसिला टूटने नहीं देता। व्याख्यान देते समय यदि एक दो नवीन विचार वक्ताके मनमें उत्पन्न हों, तो उनको किस प्रकार प्रकट करना और श्रोताओंके सामने उन्हें कैसे रखना—यह बात वह तीव्र कल्पना-शक्तिसे तुरन्त जान लेता है। यदि उसकी स्मरण-शक्ति और कल्पनाशक्ति तीव्र न हो, तो चलते व्याख्यान में आये हुए विषयोंको वह मन ही मनमें ख़ूब सुसज्जित करके श्रोताओंके सामने सहज ही में नहीं रख सकता। इसलिये वक्ताकी कल्पना-शक्तिका तीव्र होना बहुत आवश्यक है। क्योंकि जब उसकी मनोवृत्ति तीव्र होगी, और वह नाना प्रकारके उत्तम विचारोंको उत्पन्न करेगी, तो सहज ही में वह श्रोताओंके मन पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकेगा ।

(६) सामर्थ्य द्युति ।

प्रशंसनीय व्याख्यान देनेके लिये वक्तामें कुछ तमोगुण भी होना चाहिये। जो वक्ता सतोगुणी या रजो-

गुणी होते हैं वे अधिक विश्वास नहीं हो सकते; क्योंकि जो मनुष्य सात्विक वृत्तिके होते हैं, उनका चित्त कदापि कुपित नहीं होता। इसी प्रकार रजोगुणीके हाथसे आरंभ हुए काम धीरे २ समाप्त होते हैं; और अन्तमें स्थिर नहीं रहते। पर तमोगुण वाला मनुष्य हजारों विघ्न-बाधाओंको लाँघ कर दृढ़ निश्चयसे काम करनेकी शक्ति रखता है। अतः वक्तामें तमोगुणका कुछ अंश होना आवश्यक है।

(५) दृढ़ निश्चय और मनकी स्थिरता।

प्रसिद्ध वक्ता बननेके लिये मनकी स्थिरताकी भी ज़रूरत है। डरपोंक और कायर मनुष्योंको कभी यश प्राप्त नहीं होता। पहले तो समाजके सामने खड़े होनेके लिये ही थोड़े-बहुत धैर्यकी आवश्यकता है; फिर अपने विचार समाजके सामने प्रकट करने के लिये और भी विशेष दृढ़ता चाहिये। इस समय यदि अपने विचारोंका खण्डन हो, तो उनका मण्डन करनेके लिये असीम निर्भीकताकी ज़रूरत है। अचिंतितपूर्व व्याख्यान देने वाला मनुष्य बहुत दृढ़ निश्चयी और धैर्यवान होना चाहिये। यदि उस समय वह डरके मारे अटक अटक कर बोले, तो उसका एक भी शब्द कामका नहीं होता; और व्याख्यानके विचार उसके चित्तसे निकल जाते हैं। उसकी स्मरणशक्ति समूल नष्ट हो जाती है; और कल्पना-शक्तिसे भी वह रहित हो जाता है। ऐसी दशामें कई प्रसङ्गों पर वक्ता घबड़ा जाता है, और उसके मुँहसे एक भी शब्द बाहर नहीं निकलता। इस लिये वक्ता बनने वालोंको समय पड़ने पर घबड़ाना नहीं चाहिये; और खूब दृढ़ता धारण करनी चाहिये। पर

केवल गर्वोक्तियाँ और आत्मस्तुति ही प्रशंसनीय नहीं होती—दृढ़ता धारण करनेके साथ ही साथ नम्रता भी रखना चाहिये। क्योंकि ऐसा न करनेसे उस वक्ताका एक भी शब्द श्रोताओंको अच्छा नहीं लगता; और वे उसे घृणाकी दृष्टिसे देखने लगते हैं। प्रसिद्ध वक्ता सिसरो पहले पहल व्याख्यान देते समय काँपता था। उसका अनुमान था कि उसने ऐसा कोई वक्ता नहीं देखा जो पहले पहल व्याख्यान देते समय भयसे न काँपा हो। पर प्रथमकी घबराहट और भाषण आरंभ करनेके बादकी घबराहटमें बड़ा अन्तर है। यदि इस प्रकारकी घबराहट जान पड़ती हो, तो यथासंभव इसको मिटाना चाहिये; और इसको मिटानेका सरल उपाय, पहले पहल छोटी २ सभाओंमें व्याख्यान देना आरंभ करना है। व्याख्यान आरंभ करनेके पहले जो एक प्रकारका भय उत्पन्न होता है वह वक्ताकी आत्म-विस्मृतिसे होता है। उस समय यदि वक्ताको दृढ़ निश्चय हो कि मैं अपने बल, विद्या और गुणोंसे प्रतिपाद्य विषयको भलीभाँति श्रोताओंके सामने रख सकूंगा, तो वह चाहे कैसे भी जनसमुदायके सामने निर्भीकतासे व्याख्यान आरंभ कर सकता है। इसलिये वक्ताको दृढ़निश्चयी और आत्म-सम्मानी बनना चाहिये।

(८) अन्त करणकी प्रसन्नता।

जब किसी बातका असली मतलब समझकर उसमें हमें विश्राम हो जाता है, तब हमको अपार आनन्द होता है; और उस आनन्दको प्रकट करनेके लिये हम कितनी चेष्टाएँ करते हैं—यह स्पष्ट ही है। हमारे मन का यह

स्वाभाविक धर्म है कि जिस ज्ञानका प्रकाश उसको मिलता है उसे वह दूसरों पर भी डालता है; और यथाशक्ति दूसरे को अपने अनुभूत आनन्दका हिस्सेदार करके बड़ा सुख मानता है। समाजमें कीर्ति सम्पादन करनेकी इच्छासे अपने ज्ञानभंडारको हम बड़ी उत्सुकताके साथ प्रकट करना चाहते हैं; और साधारण बुद्धिके मनुष्यकी अपेक्षा कुशाग्र बुद्धिवाला मनुष्य इस कामको अच्छी तरह कर सकता है। अपनी समझी हुई बातको ज्योंको त्यों दूसरोंको समझा देना- यह कुशाग्र बुद्धिका काम है।

अन्तःकरणकी प्रसन्नताके द्वारा वक्ता श्रोताओं पर खूब प्रभाव डाल सकता है। पहले तो उसके प्रसन्न अन्तःकरणमें व्याख्यानका विषय खूब समाया हुआ होना चाहिये; और फिर उसपर खूब विचार करके उसे आनन्द-पूर्वक व्यक्त करना चाहिये। वक्तृताके लिये वक्ताका अन्तःकरण बालकों और स्त्रियों जैसा होना चाहिये। जैसे स्त्रियोंके कोमल अन्तःकरणमें कोई बात नहीं ठहरती और स्वच्छ मनकी बात झट अपने मातापितासे कह डालते हैं, उसी प्रकार वक्ताका अन्तःकरण होना चाहिये; पर भला-बुरा विचारनेकी शक्ति उसमें अवश्य हो—अन्तःकरण की प्रसन्नतासे, आनन्दमें अपनेको भूल जाना ठीक नहीं।

आनन्दमें उपजी हुई बातको एकाएक श्रोताओंके सम्मुख नहीं कह डालना चाहिये। उसपर पहले विचार कर लेना चाहिये कि इसमें क्या तत्व है, इसको मुझे किस अभिप्रायसे और किन शब्दोंमें कहना चाहिये। पर इसका [illegible] वक्ताको थोड़ेसे समयमें अपने मनमें कर लेना

चाहिये। विलंब ही जानेसे श्रोताओंका मन दूसरी ओर आकर्षित हो जाता है, और फिर यह बात नीरससी मालूम होती है। इसके सिवा, वक्ता यदि ऐसी बातोंको शीघ्र स्थिर करनेकी आदत न रखते, तो फिर वह मन ही मन कई झंझटोंमें पड़ जाता है; और धीरे २ यह क्रिया वक्ताको यहाँ तक हानि पहुँचाती है कि वह अपने ध्यानमें ही मस्त रहने लगता है, मित्र-मंडलीमें बोलना उसे नहीं सुहाता, और इच्छा रहते भी वह श्रोताओंके सामने ठीक नहीं बोल सकता।

अन्तःकरणकी प्रसन्नताके बिना वक्ताके भाषणमें कितने ही अभाव रह जाया करते हैं; क्योंकि जो बात लापरवाहीसे कही जाती है उसका प्रभाव लोगों पर कुछ नहीं पड़ता। सच्चे अन्तःकरणसे कही वक्ताकी बातको श्रोता आदरके साथ माननेको तैयार हो जाते हैं। ऐसा वक्ता बड़ा आदर-पात्र बन जाता है; और लोग उसपर बड़ा विश्वास रखने लगते हैं। उसको स्वयं सभा समाजों में गये बिना चैन नहीं पड़ती। दूसरे, अन्तःकरणकी प्रसन्नतासे वक्ताके चित्तमें कई उत्तमोत्तम नवीन विचार उत्पन्न होते हैं; और उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। उसका मन इतना दृढ़ हो जाता है कि उसमें कठिन विषय को समझ लेनेकी शक्ति आ जाती है।

(८) ईश्वरदत्त और सामान्य वक्तृता-गुण।

सब कलाओंका यह स्वाभाविक धर्म है कि वे बुद्धिको परिपक्व और उत्तेजित करती है; परन्तु उनमें बुद्धि को उपजानेकी शक्ति नहीं होती है। व्याकरण और

साहित्य शास्त्रसे मनुष्य शुद्ध और और सरल बोलना सीखता है; पर इससे आगे नहीं बढ़ सकता। इसी प्रकारके अन्य उपायोंसे अन्तःकरणमें नये सिरेसे वक्तृत्व-शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। यह तो ईश्वरकी दी हुई ख़ास शक्ति है। हाँ, इसको उत्तेजित करके उन्नति पर पहुँचाना मनुष्यका काम है। किसी किसी मनुष्यमें स्वभाव ही से वाक्चातुर्य होता, और यह उसके नीति-स्वभाव और इन्द्रिय शक्तिका फल माना जाता है। जब इन दोनोंका पूर्ण रूपसे सम्मिलन होता है, तभी पूरी वक्तृत्व-शक्ति मिलना संभव है।

वक्तृत्व-कलामें पारंगत होनेके लिये, अत्यन्त अधिक श्रम तो नहीं करना पड़ता; पर जितना करना पड़ता है वह तन, मन और एकाग्र चित्तसे न किया जाय तो फल नहीं मिलता। संसारमें जितनी कलाएँ हैं उन सबमें आरंभ ही से एक साधारण तत्व होता है। इस तत्वसे आत्मा और मनकी जागृति होनी चाहिये। जब यह जागृति हो जावे, तो इसे उत्साह और श्रमसे धीरे २ बढ़ाना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यमें कोई एक नैसर्गिक गुण होता है; और उस गुणसे शारीरिक तथा मानसिक रचनामें जो कुछ विशेषता होती है उससे मनुष्यकी मानसिक जागृति एक विशिष्ट प्रकारका रूप धारण करके प्रकट होती है। जगतमें नाना प्रकारकी कलाएँ और उनसे हुए जो कार्य देखे जाते हैं उनका मूल कारण यही है।

(१०) सद्‌गुण अथवा भलमनसाई ।

श्रेष्ठ वक्ता होने और वक्तृत्व-कलामें योग्यता

प्राप्त करनेके लिये सद्गुणोंकी बड़ी आवश्यकता है। सद्गुणी मनुष्यकी बातको वैसे भी सब कोई मानते हैं। सद्गुण प्राप्त करनेके लिये वक्ताको सद्गुणियोंका सत्संग और उत्तमोत्तम ग्रन्थोंका मनन करना चाहिये। सद्गुणी में, किसी उत्तम विषयको दूसरेके मनमें प्रविष्ट करने की पूरी शक्ति होती है, जो दुर्गुणियोंको स्वप्नमें भी नहीं मिल सकती। भलमनसाहत दुनियाँमें पूजी जाती है। भले मनुष्यका सब कोई आदर-सत्कार करता है। और, एक बार उसकी ख्याति हो जाने पर, यदि कभी उससे कोई अपराध भी बन पड़े, तो लोग उसको दोषी नहीं ठहराते हैं। वक्ताका, श्रोताओं पर एक बार जैसा प्रभाव पड़ जाता है, वह कठिनाईसे ही हटता है। यह बात तो स्पष्ट है कि दुर्गुणी मनुष्यको संसारमें कोई नहीं पूछता; फिर दुर्गुणी वक्ताका तो कहना ही क्या है! वक्तामें यदि सद्गुणोंका वास हो, तो वह चाहे जैसे मार्ग पर श्रोताओं को चला सकता है; और अपनी वक्तृत्व शक्तिका प्रभाव पाषाणवत् हृदयमें भी जमा सकता है।

क्वींटीलियन नामक एक विद्वान्ने अपने ग्रन्थमें लिखा है, "वक्ताको अत्यन्त नीतिज्ञ होना चाहिये; और उसकी भाषामें नीति-विरुद्ध शब्द आना तो दूर रहा—उन का आभास तक नहीं आना चाहिये।" वास्तवमें बात बहुत सही है। इसके सिवा, वकीलोंके लिये भी उसने कई बातें लिखी हैं जो आगे चलकर प्रसंगानुसार लिखी जाँयगी।

(४) अभ्यास।

स्वाभाविक गुणोंका वर्णन ऊपर हो चुका; पर केवल इन्हीं गुणोंसे काम नहीं चल सकता। ये तो एक कीर्त्ति-ध्वजाके समान हैं। इस ध्वजाको उड़ानेके लिये अभ्यासकी बड़ी भारी आवश्यकता है। कोई भी मनुष्य सतत परिश्रमके साथ वक्तृताका अभ्यास करता रहे, तो वह थोड़े ही दिनोंमें अपनी कीर्त्ति-ध्वजा फहरा सकता है। अब अभ्यासके लिये किन २ बातोंकी आवश्यकता है—यह नीचे लिखा जाता है।

(१) आराधना।

आराधनाके बिना संसारका कोई काम सफल नहीं होता। आराधना ही एक ऐसी वस्तु है जो कठिनसे कठिन एवं असंभव कार्यों को भी सरल एवं संभव बना देती है। आराधनासे ही एक भील वालमीकि महर्षि हुये। आराधनाके ही बलसे सती सावित्रीने अपने मृत पति को जिलाया। आराधनाके ही प्रतापसे एक वानर-महावीर हनूमान हुये। आराधनासे ही बड़े २ तपस्वी, राजा, महाराजा एवं ऋषि मुनियोंने मनमाना फल पाया। अतः सिद्ध होता है, आराधनाके बिना कोई व्यक्ति किसी काम को सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर सकता। यदि संसारमें कोई अपने ध्येयमें सफलता प्राप्त करना है, तो केवल

आराधनाके ही वशमें। यह बात दूसरी है कि कोई किसीकी आराधना करता है और कोई किसीकी। कोई गुप्त रीति से करता है और कोई प्रकट रीतिसे। परन्तु इष्टदेवकी आराधनाके बिना किसीका काम नहीं चलता। जो आराधना नहीं करता है वह पद २ पर ठोकर खाता और गिरता है। हाँ, इतना अवश्य है कि केवल आराधनामें ही कुछ नहीं होता। उसके साथ परिश्रम, अभ्यास, और मस्तिष्क लड़ानेकी भी बड़ी भारी आवश्यकता है। आराधना तो केवल सहारा है। परिश्रम, अभ्यास और उद्योगका फल देने वाली ही आराधना है। इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ है; इसलिये इनमें से एकको अपनानेसे काम नहीं चलता। प्राचीन समयमें भारत आराधना से ही सर्व-शिरोमणि था। आजकल हमारे नवयुवक विद्यार्थी विद्या पढ़ते हैं, व्याख्यान देना सीखते हैं और अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न होनेकी चेष्टा करते हैं; पर खेदका विषय है कि वे आराधना नहीं करते—अपने इष्टदेवको भूले रहते हैं, और सदाचारी या व्रत-नेमी बननेका दावा नहीं रखते। इसी लिये उनको जैसी चाहिये वैसी सफलता नहीं मिलती। इस बातको सब जानते हैं कि विद्या, बुद्धि, ज्ञान, शब्द और वाणीकी अधीश्वरी देवी सरस्वती हैं। बुद्धि और ज्ञान-तत्वमें तो देवी साक्षात् रूपसे प्रतिष्ठित है, एवं नाद और शब्दोंकी अधीश्वरी होनेके कारण देवीकी वीणाकी झंकार से चौदह भुवन काँपते हैं। उनकी तालयुक्त चौदह नाद-ध्वनियोंमें चौदह लोक नृत्यशील हैं। इसलिये चौदह भुवनोंके सब अधिवासी, देवीकी उपासना करते हैं। जिस

नेत्रसे देवी उत्पन्न हुई हैं उसे साधुजन "आज्ञाचक्र" कहते हैं। यह एक प्रकारका मोह-मय, नाद-युक्त, और भाव-मय स्थान है। इसी से इस वाणी और वीणाधारिणी देवीका विकास है। इसके सिवा, देवीका दूसरा विकास त्रिमूर्त्तिके रूपमें है। इससे वेदकी उत्पत्ति हुई है। उसमें गायत्री, सावित्री और सरस्वती—ये तीन देवियाँ मानी गयी हैं। इनमें से ऋग्वेदकी अधीश्वरी गायत्री, यजुर्वेद की सावित्री, और सामवेदकी सरस्वती देवी है। इन तीनोंके सत्य, रज, और तम—इन तीनों गुणोंमें, लोहित, कृष्ण, पीत, शुक्ल और श्वेत वर्ण हैं। बाल्य, यौवन और वार्धक्य—इन तीनों अवस्थाओंमें ये देवियाँ तीन स्थानोंमें विकसित रहती हैं। इन मूर्त्तियोंसे ही जगत्के बाल्य, यौवन और वार्धक्यके प्रमाण मिलते हैं। जो हो, ज्ञान और विद्याप्रदायिनी होनेका मूल हेतु देवी भारती है; और उनके चरण-कमलोंमें हमारे अनेक प्रणाम हैं।

सरस्वती देवीकी उपासनाके बिना कोई भी व्यक्ति पंडित, कवि और सुवक्ता नहीं हो सकता। इन पदों पर आरूढ़ होनेकी इच्छा रखने वालोंको "माता" की उपासना करनी ही पड़ती है। इसलिये, सुवक्ता बननेके इच्छुक महाशयो और प्रिय विद्यार्थियो! वक्तृत्व-कलाका अभ्यास करनेके साथ ही, सरस्वती-माताकी उपासना भी जारी रक्खो। इससे आपको पूरी सफलता मिलेगी।

(२) ज्ञानप्राप्ति।

वक्ता बनने वाले मनुष्यको सबसे पहले ज्ञानका म... वं जानकर उसकी प्राप्तिके अनेक साधन एकत्र करने

चाहिये; क्योंकि अध्ययनसे प्राप्त किये गये बड़प्पनके बिना, स्वाभाविक गुण अधिक कामके नहीं होते। वक्ताको जिन गुणों और ज्ञानकी आवश्यकता होती है वही उसको विशेष उपयोगी होते हैं। जब ये गुण प्राप्त हो जाँय, तब इनको चैतन्य करनेके लिये वक्तामें मानसिक उत्साह होना चाहिये। ऐसा होनेसे वक्तृत्व-गुण प्रज्वलित होकर, वक्ता अपना पूरा प्रभाव श्रोताओं पर डाल सकता है—ऐसा एक प्रसिद्ध ग्रन्थकारका भी मत है। अभिप्राय यह है कि वक्ताके पास वक्तृत्व-गुणको पोषण करनेवाले द्रव्यों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

वक्ताके पास कल्पनाकी सामग्री भी होनी चाहिये; क्योंकि जिन भाषणोंमें केवल शब्दोंका आडंबर ही होता है, और कल्पना-शक्ति या विचारोंका कुछ भी लेश नहीं होता वे भाषण श्रोताओंको अच्छे नहीं लगते। कल्पनासे वक्ताको वक्तव्य विषयमें बड़ी सहायता मिलती है; और विषय अस्त-व्यस्त नहीं होने पाता। प्रसिद्ध वक्ता सिसरो और सुकरातका कहना है—"मनुष्यको जिस विषयका पूरा ज्ञान न हो उसपर बोलना उसे कभी नहीं आता।" टम्नी नामक एक विद्वान्ने मनुष्यकी आयु और ज्ञानके विस्तारका अच्छा प्रतिपादन किया है। उनका कहना है—"वक्ता बननेवालोंको ज्ञानकी आवश्यक २ शाखाओंका परिचय अवश्य प्राप्त करना चाहिये।" इससे सिद्ध होता है कि वक्ता जिस विषयपर बोलना चाहे उसका उसे पहले ही से पूरा ज्ञान होना चाहिये; क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो उसकी अपेक्षा भाट और कवि अपनी २ कलामें उत्तम

भाषण दे सकते हैं। वक्तृत्व विषयके ज्ञानके बिना वक्ता सर्वथा अनभिज्ञ गिना जाता है; और सभा-समाजमें वह अस्त्रहीन वीरोंकी तरह कुछ नहीं कर सकता। यह प्रत्यक्ष बात है कि किसी अदालतमें मुक़द्दमेसे अनभिज्ञ वकील अपने पक्षका समर्थन नहीं कर सकता; और मुक़द्दमेसे परिचित एक अपढ़ मनुष्य अच्छी तरह मुक़द्दमा चला सकता है। यही हाल वक्ताका है। वक्ता यदि अपने विषय और उसके विभागोंको भलीभाँति जाननेवाला हो, तो फिर उस की बराबरी भाट, गवैये आदि अपढ़ नहीं कर सकते।

ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वक्ता जो कुछ सीखे वह ध्यान-पूर्वक और ख़ूब समझकर सीखे जिससे मन पर दृढ़ प्रतिबिम्ब पड़े और फिर उसे सीखनेकी आवश्यकता न रहे। इसी प्रकार कल्पना, विचार और समझे हुए तत्वों को स्मरणशक्तिसे इतने सावधान रखने चाहिये कि उनपर उस समय दूसरे विषयोंकी छाया तक न पड़ने पावे। युवावस्थामें जो विद्या संपादित होती है वही पिछली अवस्थाओंमें काम देती है; और युवावस्थामें जैसी स्मरण शक्ति होती है वैसी उत्तरावस्थामें नहीं होती। इसलिये युवावस्थामें ही परिश्रम करके ख़ूब ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। पर, ज्ञान-प्राप्तिका यहीं अन्त नहीं होता—उत्तरावस्थामें भी यथासाध्य अभ्यास जारी रखा जा सक्ता है।

विद्याभ्यासकी कठिनतासे जो लोग उकता जाते हैं उनका कभी अभ्युदय नहीं होता। कठिनाइयोंको पार करके विद्या प्राप्त करनेवालोंको ही संसारमें बड़प्पन मिलता है। विद्याके सामने सारे वैभव तुच्छ हैं। विद्या

प्राप्त करके ही वक्ता बननेकी इच्छा करना उत्तम है। विद्या देवीकी मानसिक पूजा किये बिना वक्ता बनने की आशा निराशा-मात्र है।

(३) उद्योग।

किसी भी काममें सतत परिश्रम किये बिना श्रेष्ठता नहीं मिलती। बिना प्रयासके, एकदम प्रसिद्ध वक्ता, वकील या धर्मोपदेशक बननेकी आशा रखना दुराशा है। इसलिये जिन २ शुभेच्छाओंका स्फुरण हो उन्हें प्राप्त करने के लिये वक्ताको प्रयत्न करना चाहिये; और उनका अभ्यास अधूरा नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे प्रतिपाद्य विषयका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता और पूरा ज्ञान न होने से प्रसिद्धिका पथ कोसों दूर रह जाता है। अतः सतत उद्योग करते रहनेकी उत्कंठा वक्तामें ज़रूर होनी चाहिये; और उद्योगके प्रसङ्गों पर आलस्यको त्याग कर तत्परता बतानी चाहिये—यह प्रत्येक उद्योगशील जनका मुख्य कर्तव्य है। उद्योगसे कार्यकी सिद्धि होकर मनुष्यको श्रेष्ठता मिलती है। उद्योगके बिना वक्ता यदि यशस्वी होना चाहे, तो वह आत्मश्लाघी कहलाता है। पदार्थों में मसाला डालनेसे वे जैसे रुचिकर बन जाते हैं, वैसे ही उद्योग करनेसे मनुष्यके भीतर और बाहरके सुखोंकी वृद्धि होती है। निरुद्योगी मनुष्य दुःखी और निकम्मा हो जाता है। आलस उसको विलासी बनाकर उसके शरीर और मनको शिथिल कर देता है; इससे वह अपने जीवनमें सच्चा सुख और लोकप्रिय गुण संपादन करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है। शरीरमें आलस्यका प्रवेश हो जानेसे बल, उत्साह और बुद्धिकी

जागृति दिन पर दिन क्षीण होती जाती है; इसलिये उसका प्रवेश न होने देनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। एक महात्मा बालकोंको संबोधन करके कहते हैं—"हे विद्याविलासी बालको, तुम आलस्यको एक ओर रखकर विद्याभ्यास करो। एक बार जब तुम्हें अभ्यासकी बान पड़ जायेगी, तो फिर तुम उसे कभी नहीं छोड़ोगे।"

वक्ता बननेके लिये सृष्टि-नियम बाधा नहीं डा सकता; और जब वह बाधा नहीं डाल सकता, तो ज़रा कठिनतामें उसका बहाना लेकर बैठे रहना अच्छा नहीं हाँ, यह बात अवश्य है कि एक मनुष्य सब विषयोंका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; पर आलस्यके वश होकर काम को छोड़ना ठीक नहीं। मनुष्य यदि बराबर परिश्रम करता जायगा, तो उसे अवश्य सफलता मिलेगी—इसमें सन्देह नहीं। वक्तृत्व-कलाका अभ्यास करनेके लिये उद्योगको कभी नहीं त्यागना चाहिये; और छाती अड़ाकर कठिनाइयोंका सामना करना चाहिये। डिमास्थेनीज़ने वक्तृताका अभ्यास करते समय बड़ी २ कठिनाइयोंका सामना किया था। वह मुँहमें कङ्कड़ डालकर पहाड़ पर चढ़ता और चढ़ते समय वक्तृता देता जाता था। इस क्रियासे उसकी हकलाहट बिलकुल दूर हो गई थी। वक्तृता देते समय वह अपना एक कंधा हिलाया करता था। इस दोषको दूर करनेके लिये उसने एक बड़े जोखिमका काम किया था। उसने एक तलवारको ऊप टाँग कर और उसकी नोंकके नीचे अपने हिलनेवाले कंधेके रखकर वक्तृता देना शुरू किया। इससे थोड़े ही दिनों

उसकी यह आदत दूर हो गई थी। पहले पहल उसकी वक्तृताको सुनकर लोग बहुत हँसते थे। इसलिये उसने दर्पणके सामने वक्तृता दे दे कर अभ्यास कियाथा। इसप्रकार परिश्रम और उद्योग करनेसे वह एक बहुत विख्यात वक्ता हो गया, जिसे आज सारा संसार आदरकी दृष्टिसे देख रहा है।

कोई भी काम बिना उद्योगके पूरा नहीं होता। उद्योग और समयके सदुपयोगसे अति दुष्कर कार्य भी सरल हो जाता है। समयके सदुपयोगसे ही मनुष्यका आदर होता है। मनुष्यके करने योग्य काम बहुत हैं, और जीवन अल्प है। विद्या अपार धन है; इसलिये एक भी पल व्यर्थ न खोकर सावधानीसे उसका सदुपयोग करना चाहिये। कोई २ महाशय कहा करते हैं कि हमको समय नहीं मिलता। पर उनके इस कथनमें सार नहीं है। यदि वे विचार-दृष्टिसे देखेंगे, तो उन्हें मालूम होगा कि एक २ मिनिटका संग्रह करनेसे दिनमें उनको कितना समय मिल जाता है; और फिर भी सारी रात शेष रह जाती है।

मनुष्य जिस धन्धेमें प्रवृत्त होना चाहे उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उसे विशेष लक्ष्य रखना चाहिये; जैसे, वकील बननेके लिये क़ानून और न्यायाधीशको विश्वास दिलाने-वाली विद्याको जानना; धर्मोपदेशक बननेके लिये अपना सब लक्ष्य ईश्वर-संबंधी ज्ञान, धर्म, नीति और मनुष्य-स्वभावकी जानकारीकी ओर रखना; कौंसिलके मेंबर होने वालेको वहाँके कामकाजका ज्ञान, स्वदेश में प्राचीन इतिहास, देशकी वर्तमान स्थिति, देशके नियम और पर-राज्यके साथ संबंध आदि बातोंका जानना,

(६) न्याय अथवा तर्कशास्त्र।

वक्ताके मनन करनेयोग्य विषयोंमें से न्यायशास्त्र भी एक है; और उसको इसका अवश्य अभ्यास करना चाहिये। यह शास्त्र वाद-विवाद करनेमें वक्ताको बड़ी सहायता देता है। कितने ही लोगोंमें तो स्वाभाविक तर्क-बुद्धि होती है; पर उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनेके लिये न्यायशास्त्रका अध्ययन बड़ा उपयोगी होता है; इसलिये तर्कशास्त्रका जितना अभ्यास बढ़ाया जाय उतना अच्छा है। कई बार वक्ताको न्यायशास्त्रके उपयोग की आवश्यकता पड़ जाती है; इसलिये ख़ूब समझकर उसका सदुपयोग करना सीखना चाहिये। इससे कठिनसे भी कठिन भ्रान्तिवाले प्रश्नोंकी व्याख्या करना सहज ही में आ जाता है; और ख़ूब वाद-विवाद करके वक्ता उस सिद्धान्तका निराकरण कर सकता है। एकाध अनुभवी गुरुके पास बहुत समय तक न्यायशास्त्रका अध्ययन करनेसे प्रवीणता नहीं मिलती; या केवल तत्वोंका ही अध्ययन करनेसे कुछ लाभ नहीं होता; परन्तु उसका किस जगह कैसा उपयोग करना—यह बात ख़ास तौर पर मनन कर रखनी चाहिये। किसी मनोरंजक विषय पर अथवा बोधक विषयके सम्बन्धकी सब कल्पनाओंको इकट्ठा करके उन्हें स्पष्ट युक्तिसे काममें लानेकी रीति समझनी चाहिये।

इन सारी बातोंको प्रयोगमें लानेके लिये भाषाज्ञान, नीति और ऐतिहासिक विषयोंमें से कोई भी उत्तम विषय लेना चाहिये, और फिर उसके विषयानुसार अलग २ विभाग करके उसको सिद्ध करनेके साधन ढूँढना चाहिये;

और यह देखना चाहिये कि इसमें पूर्णता लानेके लिये कौन २ से मार्ग हैं। इस प्रकार प्रत्येक विषयका उत्तम रीतिसे संकलन करनेसे उसका प्रतिपादन सरलतासे हो सकता है। अथवा, किसी विषयके दो विभाग करके अपनेसे अधिक विद्वान् मनुष्यसे उसका निर्णय कराना और उसके निर्णय में अपनी भी बुद्धि लड़ाकर देखना कि यह निर्णय वास्तवमें माननेके योग्य है या नहीं। ऐसा करनेसे यदि उस निर्णय में कुछ संदेह उत्पन्न हो, तो उस मनुष्यसे वाद-विवाद करके उसे दूर करना चाहिये।

प्रत्येक विषयमें ऐसा करनेके लिये यद्यपि कभी २ अवसर नहीं मिलता और झुंझलाहट भी आजाती है. तथापि इस पद्धतिसे विषयका स्पष्टीकरण होकर मनको विश्वास आजाता है।

यह तो हुई पहली रीति। अब दूसरी रीति यह भी है कि पहलेसे निश्चित न करके उसी समय किसी विषयको लेकर उस पर बोलना आरंभ करना चाहिये। ऐसे समय प्रतिपाद्य विषयका सच्चा स्वरूप तो पहलेसे मालूम होता ही नहीं है; इससे वाद-विवाद चलने पर यह सिद्ध हो सकता है कि किसमें सच्ची विद्वत्ता है और किसमें नहीं। इस वाद-विवादमें खंडन या मंडन किंवा विधान वा निषेध भी चलना चाहिये; क्योंकि प्रत्येक विषय में प्रतिकूल और अनुकूल-ये दो बातें होती हैं। इनमें से अकेले एक ही विषयका विचार करना ठीक नहीं, बल्कि इनके अलग २ अङ्ग ढूँढ़कर उन पर सूक्ष्म रीतिसे विचार करना चाहिये। ये बातें सीखे बिना नहीं आतीं; और

के धंधोंमें अधिक नष्ट होता है। वे सदा उसी धंधेमें निमग्न रहते हैं। इससे व्याख्यान देनेकी पद्धति वे दूसरों को नहीं समझा सकते। तथापि आरंभमें मैंने दो बातोंका सम्पादन करना आरंभ किया। एक तो ऊपरी ज्ञान (general knowledge) का जिसके हो जानेसे मनमें जैसी हिम्मत, तत्परता और दृढ़ता आ जाती है वैसी किसी दूसरे साधनसे नहीं आती; और दूसरे इसका, कि किसी भाषणके विषयका पहलेसे ही मनन करके उसपर निबंध करना। पहलेसे विषयका मनन करनेसे सहज ही में शब्दों का समूह इकट्ठा हो जाता है, और वह जब चाहें तब याद आ सकता है।"

(८) वक्तृत्व विषय का लिखना।

जिस विषय पर व्याख्यान देना हो उसको पहि लिख रखनेकी आदत डालना, आरम्भमें, बहुत अच्छा विषयको लिख लेनेसे उसका विवेचन सरल नियमित, और सुव्यवस्थित हो जाता है। बोलते समय जिस प्रकार मुखसे असावधानीके कारण वाक्य निकल जाते हैं, वैसे विषयको कागज़ पर लिख लेनेसे निकलना असम्भव है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी विशेष विषयको ही लिखना चाहिए किसी समय कोई बात लिखनी, या किसी समय जिस विष पर बहुत विचार करना हो ऐसे विषयको लेकर उसप निबन्ध लिखना, यदि कवित्व-शक्ति हो तो कभी र चमत्कारिक काव्य लिखते रहना चाहिए। मतलब यह है कि लिखनेका अभ्यास खूब रखना चाहिये।

लिखनेकी पद्धतिके सम्बन्धमें एक विशेष लक्ष्य

रखना आवश्यक है। और, वह यह है कि कोई भी विषय लिखनेके समय, उस विषय पर प्रकाशित हुए ग्रन्थोंका अवलोकन न करके मनमें जो भावनाएँ उत्पन्न हों प्रथम उन्हींको लिखनेका आरम्भ करना चाहिये। उस विषयमें, अपने मनमें पहिलेसे क्या २ विचार उत्पन्न होते हैं इसकी खोज करना और उत्पन्न हुए विचारोंको पहिले अन्त:करणमें स्थित करके पीछेसे उन्हें काग़ज़ पर लिखना आरम्भ करना चाहिये। पश्चात्, उस विषयके ग्रन्थोंमें उसका किस प्रकार प्रतिपादन किया गया है— इसकी खोज करना चाहिये। यह बात है बहुत परिश्रमकी; परन्तु इससे सब काम सहज हो जाते हैं। लिखना, वक्तृत्व-कलाका सहायक है—इस बातको प्रसिद्ध वक्ता सिसरो भी मानता है।

एक प्राचीन ग्रन्थकार कहता है कि "अपनेसे जितना लिखा जाय उतना ध्यानपूर्वक लिखना।" जैसे खेतोंकी ज़मीन जोतकर ऐसी पोली कर दी जाती है कि उस में बोया हुआ अनाज खूब उपजता है इसी प्रकार ऊपरी बाह्य सम्पादन करनेकी अपेक्षा, मानसिक सुधार करनेसे उत्तम फल प्राप्त हो सकता और वह फल सदा स्थिर रहता है। क्योंकि यदि असावधानीसे समयानुसार बोलने की विद्या प्राप्त हो भी जाय तो उससे विशेष लाभ होना असम्भव मालूम होता है। बहुत परिश्रम करनेसे समया-नुसार शब्द मिल जाते हैं, पर जब तक भीतरी तत्त्व समझमें नहीं आता, तब तक बोलना कोरी बकबक सा काम पड़ता है। बोलनेके विषयको लिखना, वक्तृत्व कलाको सिखाने

प्राप्त हो जाने पर पुस्तकका एक एक प्रकरण ग्रहण कर उस पर अपनी स्मरण-शक्ति लड़ानी और उसका आशय मुखसे बोलनेकी आदत डालनी चाहिये।

एक तीसरी रीति यह भी है कि किसी पद्यात्मक ग्रन्थको लेकर उसका आशय मुखसे कहना और कहते समय यह कल्पना करना कि मैं किसी समाजके सन्मुख व्याख्यान दे रहा हूं। यह रीति साध्य हो जानेसे कविकी कल्पना की अपेक्षा उस मनुष्यकी कल्पना अधिक प्रबल हो जाती है। ऐसा करके मानसिक परिश्रम करनेवाले बहुत ही सरलतासे वक्तृत्व-कला सीख सकते हैं। परन्तु मानसिक परिश्रम पहिले साध्य कर लेना चाहिये; क्योंकि बड़े २ विद्वानों ने भी ऐसा ही करके नाम कमाया है।

इस रीतिका अभ्यास करते समय, चाहे अपना व्याख्यान कोई सुनता हो या न सुनता हो उसमें ज़रा भी असावधानी नहीं होनी चाहिये। उस समय किसी मनुष्य या श्रोताका न होना ही अच्छा है। विद्यार्थियोंको नियत किये समय पर इसका अभ्यास करना चाहिये; और इस बातको लक्ष्यमें रखना चाहिये कि उस स्थानमें कोई श्रोता न हो; पर यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि हमारा स्थान बहुतसे श्रोताओंसे भरा हुआ है और हम उनके सामने व्याख्यान दे रहे हैं। ऐसा जानकर उनको शब्दोच्चारण और स्पष्ट बोलनेकी रीति सावधानीसे काममें लानी चाहिये।

शब्दोंका जो संग्रह किया जाय वह सरल और सुन्दर शब्दोंका होना चाहिये। शब्द-संग्रह ऐसा

हो जिससे अपनी महत्ता या बड़ाईके बाक्य श्रोताओंके सामने रखने पड़ें। यह जानकर शब्दोंका संग्रह करना चाहिये कि मैं वक्तृत्व-कलाको संपादन करनेके लिये ही ऐसा कर रहा हूं। इसमें वक्ताकी बड़ाई है। सरल और रसमयी भाषामें लिखी पुस्तकोंके पढ़ने या विद्वानोंके भाषण सुननेसे यह रीति सरलतासे समझमें आ जाती और शब्द-ज्ञान शीघ्रतासे हो जाता है। साथ ही, यह बात भी खूब समझमें आ जाती है कि किस शब्दका उपयोग किस स्थानमें करना चाहिये।

समयानुसार सादी और भद्रजनोचित पोशाक धारण करनेसे मनुष्यको जो मान मिलता है वह अपनी हैसियतसे बाहर पोशाक पहिननेसे नहीं मिलता, प्रत्युत ओछापन दिखाई देता है। इसी प्रकार व्याख्यानमें शब्दों का ही लालित्य लानेसे या उसीकी झड़ी लगा देनेसे प्रतिपाद्य विषयका सब मरम नष्ट हो जाता है। इसलिये शब्दोंकी योजना करते समय खूब ध्यान रखकर, व्याख्यानो में अर्थ-गौरव लानेकी कोशिश करना चाहिये।

एक व्याख्यानमें भिन्न भिन्न हजारों शब्दोंकी अपेक्षा कुछ अधिक शब्द उपयोग करनेवाले वक्ता थोड़े ही दिखाई देते हैं। इससे कई शब्दोंकी आवश्यकता सहज हो में पड़ जाती है। इंग्लैंडके किसी भी उत्कृष्ट विद्वानके साधारण भाषणमें भी भिन्न भिन्न तीन चार हजार शब्दोंका समूह दृष्टिगोचर होता है। जो वक्ता पूर्ण विचार करके बोलनेवाला होगा वह अपने शब्द-भाण्डारकी सहायतासे, समाजके सामने अपनी मनोगति खूब समझा सकेगा। कोई भी

प्राप्त हो जाने पर पुस्तकका एक एक प्रकरण ग्रहण कर उस
पर अपनी स्मरण-शक्ति लड़ानी और उसका आशय मुखसे
बोलनेकी आदत डालनी चाहिये।

एक तीसरी रीति यह भी है कि किसी पद्यात्मक
ग्रन्थको लेकर उसका आशय मुखसे कहना और कहते समय
यह कल्पना करना कि मैं किसी समाजके सन्मुख व्याख्यान
दे रहा हूं। यह रीति साध्य हो जानेसे कविकी कल्पना
की अपेक्षा उस मनुष्यकी कल्पना अधिक प्रबल हो जाती
है। ऐसा करके मानसिक परिश्रम करनेवाले बहुत ही सर-
लतासे वक्तृत्व-कला सीख सकते हैं। परन्तु मानसिक परि-
श्रम पहिले साध्य कर लेना चाहिये; क्योंकि बड़े २ विद्वानों
ने भी ऐसा ही करके नाम कमाया है।

इस रीतिका अभ्यास करते समय, चाहे अपना
व्याख्यान कोई सुनता हो या न सुनता हो उसमें ज़रा भी
असावधानी नहीं होनी चाहिये। उस समय किसी मनुष्य
या श्रोताका न होना ही अच्छा है। विद्यार्थियोंको नि
किये समय पर इसका अभ्यास करना चाहिये; और
बातको लक्ष्यमें रखना चाहिये कि उस स्थानमें कोई श्रो
न हो; पर यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि हमारा स
बहुतसे श्रोताओंसे भरा हुआ है और हम उनके स
व्याख्यान दे रहे हैं। ऐसा जानकर उनको शब्दोच्चार
और स्पष्ट बोलनेकी रीति सावधानीसे काममें लानी
चाहिये।

शब्दोंका जो संग्रह किया जाय वह सरल और
सुन्दर शब्दोंका होना चाहिये। शब्द-संग्रह ऐसा

हो जिससे अपनी महत्ता या बड़ाईके वाक्य श्रोताओंके सामने रखने पड़ें। यह जानकर शब्दोंका संग्रह करना चाहिये कि मैं वक्तृत्व-कलाको संपादन करनेके लिये ही ऐसा कर रहा हूं। इसमें वक्ताकी बड़ाई है। सरल और रसमयी भाषामें लिखी पुस्तकोंके पढ़ने या विद्वानोंके भाषण सुननेसे यह रीति सरलतासे समझमें आ जाती और शब्द-ज्ञान शीघ्रतासे हो जाता है। साथ ही, यह बात भी खूब समझमें आ जाती है कि किस शब्दका उपयोग किस स्थानमें करना चाहिये।

समयानुसार सादी और भद्रजनोचित पोशाक धारण करनेसे मनुष्यको जो मान मिलता है वह अपनी हैसियतसे बाहर पोशाक पहिननेसे नहीं मिलता, प्रत्युत ओछापन दिखाई देता है। इसी प्रकार व्याख्यानमें शब्दों का ही लालित्य लानेसे या उसीकी झड़ी लगा देनेसे प्रतिपाद्य विषयका सब महत्व नष्ट हो जाता है। इसलिये शब्दोंकी योजना करते समय खूब ध्यान रखकर, व्याख्यानों में अर्थ-गौरव लानेकी कोशिश करना चाहिये।

एक व्याख्यानमें भिन्न भिन्न हज़ारों शब्दोंकी अपेक्षा कुछ अधिक शब्द उपयोग करनेवाले वक्ता थोड़े ही दिखाई देते हैं। इससे कई शब्दोंकी आवश्यकता सहज ही में पड़ जाती है। इंग्लैंडके किसी भी उत्कृष्ट विद्वान्के साधारण भाषणमें भी भिन्न भिन्न तीन चार हज़ार शब्दोंका समूह दृष्टिगोचर होता है। जो वक्ता पूर्ण विचार करके बोलनेवाला होगा वह अपने शब्द-भाण्डारकी सहायतासे, समाजके सामने अपनी मनोगति खूब समझा सकेगा। कोई भी

वक्ता जब प्रख्यात होता है, तो उसके पास कम से कम दस हज़ार शब्दोंका समूह होता है। इंगलैंडके प्रख्यात कवि मिल्टनके कई ग्रन्थोंमें प्रायः हज़ार भिन्न भिन्न शब्दोंका संग्रह है। इसी प्रकार इंगलैंडके प्रख्यात कवि शेक्सपियर ने अपने ग्रन्थोंमें भिन्न २ प्रकारके पन्द्रह हज़ार शब्दोंका समावेश किया है।

(१०) वक्तृत्वकी सिद्धिमें आनेवाले विघ्न।

अब वक्ताके मार्गमें आनेवाले विघ्नोंकी ओर पाठकोंको लक्ष्य देना चाहिये। जब वक्ता पहिले पहल बोलनेके लिये खड़ा होता है, उस समय उसको बड़ा भय मालूम होता है कि मैं क्या कहूं और मेरे कहनेसे लोग हँसेंगे या क्या होगा? यह भय वक्ताको अपयश दिलानेका कारण बन जाता है; और जहाँ एक बार अपयश मिला, तहाँ व्याख्यान देना छोड़ देनेकी इच्छा हो जाती है। परंतु यदि पहिले पहल अपयश मिल भी जाय, तो निराश न होना चाहिये, बल्कि उस समय शेरीडन, रायर्ट हॉल, अर्ल आफ़ बेकन्सफ़ील्ड आदि के उदाहरण ध्यानमें रखकर मनको समाधान करना चाहिये। शेरीडनके विषयमें कहा जाता है कि जब वह पार्लामेंटके सामने, पहिले पहल व्याख्यान देनेको खड़ा हुआ, तो लोगोंने इतनी हँसी उड़ाई कि और कोई होता तो वह शायद ही व्याख्यान देनेको खड़ा होता। परन्तु उसने इससे न घबराकर दृढ़ निश्चय किया कि "चाहे जो हो, मेरे अन्तःकरणमें जो वक्तृत्व-गुण वास कर रहा है उसका कभी न कभी अवश्य विकास होगा—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है; और इसीलिये किसीके कहने-सुननेसे

मैं व्याख्यान देना नहीं छोड़ूँगा।". इस निश्चयके सहारे, आगे चलकर, शेरीडन ऐसा प्रख्यात वक्ता हो गया कि उस की कीर्ति आज भी उज्ज्वल है। इसी भाँति राबर्ट होल भी पहिले पहल ऐसा कच्चा व्याख्यानदाता था कि समाजके सामने खड़े होते ही उसको लज्जा आती थी। परन्तु अपने दृढ़ निश्चयसे वह प्रसिद्ध धर्मोपदेशक हो गया है। जब पहिली बार उसको एक सभामें धर्मोपदेश देने का अवसर मिला, तो वह एक दो शब्द बोलकर ही रुक गया; और ऐसा घबरा गया कि एक दम चिल्ला उठा, "मैं भूल गया हूं, भूल गया हूं, सब चूक गया हूं, अब मुझे कुछ भी नहीं सूझता।" दूसरी बार फिर भी उसकी हँसी हुई; पर उसने अपने दृढ़ निश्चयको नहीं छोड़ा; और इसीसे वह इङ्गलैंडमें एक उत्तम वक्ता हो गया है। लार्ड बेकन्सफील्ड की भी ऐसी ही दशा हुई थी। जब उसने हाउस आफ कामन्सकी सभामें पहिली बार व्याख्यान दिया, तो सभासदोंने उसकी बहुत अधिक हँसी की। परन्तु इससे न घबराकर उसने निर्भयताके साथ कहा कि "कोई हानि नहीं, कोई समय ऐसा भी आवेगा कि मेरे भाषण आप लोग शान्त चित्तसे सुनेंगे।" उसके सतत प्रयास और परिश्रमसे ऐसा समय आ भी गया; और उसने सबको बताया कि देखिये, परिश्रम कैसी अच्छी चीज़ है।

जिन वक्ताओंको प्रसिद्ध होना है वे उपरोक्त उदाहरण ध्यानमें रखकर दृढ़ निश्चयके साथ वक्तृत्व-कला का अभ्यास करें। बोलने समय पहिले पहल विघ्न आजानेसे [illegible]

रहती। इसके लिये पहिले परिचित मण्डलीके सामने व्याख्यान देनेका अभ्यास करना चाहिये। इसके बाद, अन्य समाज के सामने व्याख्यान देना आरम्भ करना चाहिये। ऐसा करनेसे, बड़े २ जनसमुदायके सामने भी व्याख्यान देते हुए वक्ता नहीं घबराता है, और उसमें स्थिरतासे व्याख्यान देनेकी शक्ति आजाती है। जब यह शक्ति आ जाती है, तो अन्तःकरणमें भला-बुरा विचारनेका सामर्थ्य हो जाता है और श्रोताओं पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

और भी बहुतसे विघ्न वक्ताके सामने आ जाते हैं। उनमें से एक यह है कि बोलते २ आधा वाक्य मुखसे निकलकर जीभ रुक जाती है; और पूरा वाक्य नहीं निकलने पाता। ऐसे समयमें जहाँसे सम्बन्ध टूटा हो, वहीं से फिर आरम्भ करना चाहिये; और व्याकरणके नियमोंकी तरफ़ ध्यान न देकर किसी भी रीतिसे वाक्य पूरा करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। पहिली रीतिकी अपेक्षा इस दूसरी रीतिको व्यवहारमें लाना उत्तम है; क्योंकि व्याख्यानके समय श्रोता व्याकरणके नियमोंकी ओर लक्ष्य नहीं रखते, बल्कि इसपर ध्यान रखते हैं कि वक्ता किस स्थान पर घबराया है, और किस मार्गका अवलम्बन कर रहा है। इसलिये युक्ति-पूर्वक वाक्यको पूरा करना ही उचित है।

(११) शब्दोच्चार न करके, मन ही मनमें बोलना।

बोलनेकी यह रीति बड़ी उत्तम है। इस रीतिसे विद्यार्थी अपने मनमें किसी विषयकी योजना करके उसपर जो बोलना चाहें बोल सकते हैं। परन्तु उनकी तरफ़ देखने-

श्रोताओंको यह मालूम होता है कि वे कुछ भी नहीं बोल रहे हैं। ऐसा बोलना, प्रकट बोलना आनेमें बड़ी सहायता देता है।

(१०) व्याख्यान-शैली प्राप्त करना।

उत्तम २ प्रमाणों और उदाहरणोंके सुनने या उन का अनुकरण करनेसे व्याख्यान-शैली प्राप्त हो सकती है।

(११) स्मरण शक्ति और उसका बढ़ाना।

वक्ताको अपनी स्मरण-शक्ति बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि इस शक्तिका जितना उपयोग होता है उतना और किसीका नहीं होता। अचिन्तितपूर्व व्याख्यान देते समय पहिलेसे कुछ भी तैयारी करनेका अवसर नहीं मिलता; और सबके देखते, उसी समय, तैयार होना पड़ता है। इसलिये ऐसे समयमें स्मरण-शक्ति बड़ा काम देती है। प्राचीन और अर्वाचीन उदाहरणोंसे, स्मरण-शक्ति जितनी बढ़ाई जाय उतनी ही वह बढ़ सकती है। थेमिस्टोक्लीज़ने एक ही वर्षके अभ्यासमें, फारसी भाषाका व्याकरण भलीभाँति सीख लिया था। इसी प्रकार मिथ्रिडेटस बाईस देशोंका राज्य करता था और उन देशोंकी बाईस ही भाषाओंको वह बराबर जानता था। साइरस भी इसी प्रकारका मनुष्य था। वह अपनी अपार फ़ौजके प्रत्येक सिपाहीका नाम-पता जानता था; और आवश्यकता पड़नेपर, सारे लश्करके सिपाहियोंका नाम बराबर बता सकता था। साधारण तौर पर मनुष्यकी स्मरण-शक्ति मूल हीसे ताज़ी होनेका कोई प्राकृतिक नियम नहीं है। प्रत्येक विषयको ध्यानपूर्वक देखने या किसी एकान्तमें बैठकर उसके निरंतर

सहवाससे स्मरण-शक्ति नहीं बढ़ती; परन्तु यदि मनुष्य प्रत्येक बातपर खूब सोचविचार करनेकी आदत रक्खे, या सबहलीसे कुछ सीखता रहे, तो स्मरण-शक्ति अवश्य बढ़ती है। किसी भी भाषणके विषयको स्मरण रखना या उसपर ध्यान देना ही उत्तम स्मरण-शक्तिका लक्ष्य है। सुने हुए विषयके अलग २ विभाग करके उनको इकट्ठा करना, फिर देखना कि वे पहिलेकी सुनी हुई रीत्यनुसार तैयार हुए हैं कि नहीं— इस प्रकार सब भाग स्मरण रखकर तैयार करने चाहिये। न्याय-शास्त्रकी रीतिके अनुसार विषयके विभाग करके उन्हें स्मरण रखना बहुत सरल हो जाता है। पाठ तैयार करनेका उत्तम समय, रात्रिमें सोनेसे पहिलेका समय है। परन्तु इतना भोजन नहीं करना चाहिये कि सोनेके पहिले आलस्य आ जाय। प्रातःकाल उठते ही रात्रिमें किये हुए पाठको पुनः याद करना चाहिये। स्मरण-शक्ति मन्द हो जानेसे, प्रसङ्ग आने पर, कई भयङ्कर परिणाम आ उपस्थित होते हैं। एक समय लीन मेरिटस् नामके एक सिपाही पर सिकन्दर बादशाहने अपराध लगाकर उस को कैदखानेमें डाल दिया। कुछ समयके बाद, उस सिपाही को, अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये, सेनाके सन्मुख खड़ा किया। सिपाहीने कैदखानेमें रहकर यद्यपि अपने अपराधके विषयमें बहुत कुछ विचारा था, तथापि स्मरण-शक्ति कम होनेसे, वह उस समय अपने बचावके लिये कुछ भी न बोल सका; और उसके सोचे हुए विचार किसीको भी नहीं सुनाई दिये। उसकी ऐसी दशा देखकर सामने खड़े सिपाहियोंने सोचा कि "जेलमें सोचनेका इतना समय

मिलनेपर भी, यह अपने बचावके लिये कुछ भी नहीं बोल सका, तो इसने अवश्य अपराध किया होगा।" ऐसा सोच कर सिपाहियोंने उसे भालोंसे छेद डाला।

(१४) व्याख्यान देनेकी युक्ति।

इस युक्तिका स्पष्ट विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल प्रख्यात वक्ता सिसरोका मत लिखा जाता है। सिसरो कहता है कि "वक्तामें नैतिक तीव्रता, तत्त्व-वेत्ताओं की चतुराई, कवियोंकी कल्पना, वकीलोंकी स्मरण-शक्ति और उत्तम नाट्यकारों जैसा अभिनय, भाषणशैली आदि बहुतसे गुण होने चाहिये।" परन्तु ऐसे सर्व-गुण-सम्पन्न वक्ता विरले ही पाये जाते हैं। कई पाठशालाओंके निपुण पण्डितोंमें जो अमुक २ गुणोंका वास होता है, वे यदि वक्तामें हों, तो उनसे पूरा काम नहीं चल सकता; क्योंकि वक्तामें तो ऊपर कहे सब गुण नस २ में भरे हुए होने चाहिये, तभी वह उत्तम वक्ताओंकी श्रेणीमें आ सकता है।

(१५) बुद्धि बढ़ानेके उपाय।

यह ज़माना बुद्धिका है। इस ज़मानेमें विजयकी कुञ्जी बुद्धिकी तीव्रतामें ही है। बुद्धिका आधार मस्तिष्कके ऊपर और मस्तिष्कका आधार उसके सूक्ष्म रंध्रों (cells) की उत्तमता पर है। इन रंध्रोंकी रचना रक्तसे और रक्तकी रचना खानेपानेके पदार्थोंसे होती है। आयुर्वेदमें वनस्पति और फलोंके ऐसे बहुतसे प्रयोग मिलते हैं जो विचार-शक्तिकी वृद्धिमें बाधक होनेवाले कारणोंको मिटा, उन रन्ध्रोंकी संख्या और पुष्टता बढ़ाते और बुद्धिकी तीव्रताको जागृत करते हैं। हृदयमें रहनेवाला पाचक और आहारको पचाने

वाला पाचक--इन दोनों पित्तोंकी अवस्था पर बुद्ध्यात्मक-शक्तियोंका आधार होता है। ये ही वीर्य, आहार, सदाचार, और पठन-पाठनके विकसित करनेके मुख्य कारण हैं। साधक पित्त, पित्तके ५ भेदोंमें से एक है। इसीकी मुख्य क्रियासे बुद्धि, स्मृति और मेधा बढ़ती हैं। इसके कार्यको ही बुद्ध्यात्मक-शक्ति बढ़ानेवाला माना है। इसमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न हो जाय, तो बुद्धि शिथिल होने लगती है। प्रारम्भमें ये विकार माताके आचार-विचारकी असावधानीसे उठ खड़े होते हैं; क्योंकि माताके अंशसे हृदयकी उत्पत्ति होती है और हृदय बुद्धिका स्थान है। गर्भके छठवें मास ही में, बच्चेमें बुद्धिके अंकुर पैदा हो जाते हैं; और वह प्राकृतिक-बुद्धि गर्भके आठवें मासमें विशेष रूपसे बढ़ने लगती है। वैसे तो बुद्धि अपनी २ शारीरिक अवस्थाके अनुसार बढ़ती-घटती है; पर ४० वें वर्षसे मेधा और ८० वें वर्षसे बुद्धिका ह्रास होना माना गया है।

पित्तसे पाक, उष्णता, दृष्टि, क्षुधा, तृष्णा, रुचि, कान्ति, बुद्धि आदि उत्पन्न होते हैं; इसलिये पित्तसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी वस्तुओंका प्रभाव बुद्धि पर अवश्य पड़ता है। पर, ऐसे पदार्थोंके दो भेद हैं:—(१) बुद्धिवर्द्धक, और (२) बुद्धिनाशक। मादक वस्तुओंसे बुद्धिका नाश होता है; और सात्विक वस्तुएँ हृदयको हितकारी होकर बुद्धिको बढ़ाती हैं। नीचे उन औषधोंके नाम लिखे जाते हैं जो वक्ताके लिये अत्यंत लाभदायक हैं:—

१—स्वरको उत्तम, स्पष्ट और मधुर बनानेवाली तथा शीघ्र-वाक्-प्रद औषधः— वच, ब्राह्मी, जौ, गायका

री, कुलिञ्जन, चम्पा, द्राक्षा, अल्प भाँग, विदारीकन्द।

२—बुद्धि, मेधा, स्मृति तथा प्रज्ञा-शक्तिको बढ़ानेवाली औषधें-ज्योतिष्मती, शंखावली, शतावर, गोरखमुंडी, बाकुची, अपामार्ग, खम्भारी, निरगुण्डी, भांगरा, असगन्ध, मोचरस, अनार, उटंङ्गन बीज, शमी, बथुआ की साग, केतकी, मंडूकपर्णी, खदिर, अजमोद, लहसुन, भिलावाँ, वायविडङ्ग, सेंधा नमक, आँवला, गायका दूध, ताज़ा मक्खन, शहद, अखरोट, नीम, नीम या कदम्बकी दाँतौन, अकलकरा, शतावर, गिलोयका सत, नागरमोथा, ईख, विष्णु-कान्ता, अगस्त्यियांकी कोंपले, सोमलता, मेथी, वंशलोचन, मोती, काँसेका पात्र, और हृदयको हितकारी वस्तुएँ।

इनके सिवा, निम्नलिखित पदार्थ बुद्धिको शिथिल करनेवाले हैं; इसलिये वक्ताको इनसे बचना चाहिये—

सुपारी, अधिक चूने-कत्थेका पान, ख़ाली पान, अधिक ज़रदा, पानका सिरा, मदिरा, अफीम आदि नशीली चीज़ें, भेड़का दूध, तम्बाकू, हृदय, वीर्य, ओज और मस्तिष्कको हानि पहुँचानेवाले पदार्थ, मांस, आसव आदि।

बुद्धि बढ़ानेके उपाय सब जगह किये जाते हैं। कई लोग अपने बालकोंको दूधके साथ मालकाँगनी और असालिया शीत कालमें फँकाया करते हैं। ब्राह्मी बूटी "सरस्वतीकी बूटी" के नामसे पुकारी जाती है; और उत्तरी भारतमें आज भी इसका सेवन विश्वासके साथ किया जाता है। प्राचीन समयमें ऋषिगण अपने शिष्योंको विशेष बुद्धिमान् बनानेके लिये बचका होम कराते थे। दक्षिणी भारतमें माताएँ छोटे बालकोंको आज भी बचको घृतमें घिसकर

पीपलके पत्तेसे चटाया करती हैं। १६ वीं शताब्दीमें, तैलङ्ग देशमें ऋलेश्वरी महामहोपाध्याय नामक एक भारी विद्वान् हो गये हैं। उनकी "नाची" नाम्नी विधवा कन्या ज्योतिष्मती बूटीके प्रयोगसे ऐसी बुद्धिमती होगई थी कि अब भी वह संस्कृत और गुजराती साहित्यमें प्रसिद्ध है।

मस्तिष्कपर ऋतुओं और विचारशक्तिका बड़ा प्रभाव पड़ता है। उन्माद, बुद्धिके विकारकाही रोग है। आहार आदिसे बुद्धिमें अंतर होता है। जैसे पाँच तत्वोंसे शरीर बना है, वैसेही औषधें भी बनी हैं। अल्पप्रज्ञा एक प्रकारका रोग मानागया है। ऐसी दशामें मस्तिष्कके स्नायुको पुष्ट करनेवाली वस्तुएँ निस्सन्देह बुद्धिको बढ़ाती हैं।

ब्रह्मचर्यसे सारे काम सिद्ध होते हैं। ब्रह्मचर्य शरीरके आधार-स्वरूप ओजका प्रधान सहायक है; इसलिये ओजस्विनी वक्तृता देनेके लिये ओज प्राप्त करनेमें वक्ताको पहले ब्रह्मचर्यका पूरा पालन करना चाहिये, और बुद्धिको बिगाड़नेवाले काम, क्रोध, मद, लोभादिसे सदा बचते रहना चाहिये। मानसिक परिश्रमसे मस्तिष्ककी जो सार वस्तु खर्च होती है उसकी कमीको अन्न, दूध, घी, चाँवल आदि सात्विक भोजन पूरी करता है। जैसा भोजन किया जायगा वैसीही बुद्धि भी होगी। भोजन और बुद्धिका घना संबंध है। यदि वक्ताको अपनी बुद्धिमें कुछ भी न्यूनता दीखे, तो उसे दूर करने का उपाय तुरंत करना चाहिये।

बुद्धि बढ़ानेके लिये हमारे आचार्योंने दो मार्ग बताये हैं—एकतो, स्वाभाविक रीतिसे बुद्धिका विकास करना, और दूसरा, वनौषध प्रयोगसे उसे बढ़ाना। स्वाभाविक बुद्धिका

विकास अच्छे२ संस्कारोंसे, पठन-पाठन, गुरुसेवा और शास्त्र-श्रवणसे हो सकता है। इनमेंसे योग्य-गुरु, आवश्यक पुस्तकें, पाठशाला, द्रव्य, और प्रीतिसे पढ़ानेवाला ये तो बुद्धिको बढ़ानेवाले हैं, और शरीरकी नीरोगता, तीव्र स्मरणशक्ति, गुरुकी सेवा, परिश्रम और प्रीति से पढ़ना- ये बुद्धिको सहायता देनेवाले हैं। वनौषधोंका प्रयोग बुरे आहार-विहारसे शिथिल हुई बुद्धिको तीव्र करनेके लिये बनाया है। यह बुद्ध्यात्मक शक्तिको घटानेवाले कारणोंका नाश करता है। पर एकदम वनौषधोंका प्रयोग ठीक नहीं है। यदि बुद्धिमें कुछ विकार जान पड़े, तो पहले साधक पित्तकी शक्तिको बढ़ना चाहिये, और मस्तिष्क तथा ओज धातुको पुष्ट करनेके उपाय करने चाहिये, और प्रकृतिके ऊपर भी कुछ भरोसा रखना चाहिये। पश्चात्, जब किन्हीं उपायों से बुद्धिकी शिथिलता दूर न हो, तब प्रकृति, समय, अवस्था और शारीरिक शक्ति देखकर, विचारके साथ वनौषधोंका सेवन करना चाहिये।

इसप्रकार वक्ता जब अपनी बुद्धिकी गति पर पूरा ध्यान रखेगा, तभी वह बुद्धिमान बन सकेगा, और तभी उसकी विचारशक्ति उन्नत होकर उसको सफलताके शिखर पर पहुँचा सकेगी।

(१६) साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन ।

प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थकारोंके वक्तृत्व-कला पर लिखे गये उत्तमोत्तम ग्रन्थोंका अध्ययन करनेसे विद्यार्थियोंको बड़ा लाभ होता है। पर इस बातको भी नहीं भूलना चाहिये कि व्यावहारिक-ज्ञानसे वक्ताकी जितना

लाभ होता है उतना पुस्तकोंके रटनेसे नहीं होता। हाँ, साहित्यशास्त्रके उत्तमोत्तम ग्रन्थोंका खूब अध्ययन करके ज्ञान संपादन अवश्य कर लेना चाहिये।

सिसरो आदि विद्वान् वक्ताओंके वक्तृत्वकला-संबंधी ग्रन्थोंका पढ़ना बड़ा लाभदायक है; क्योंकि इनके विचार समझने और ग्रहण करने-योग्य हैं। इन्हीं लोगोंमें विशप नामका एक प्रख्यात वक्ता होगया है। इसने व्याख्यानके विषयमें बहुतही सरल और सुबोध ग्रन्थ लिखा है। खेदका विषय है कि वर्तमान कालमें वक्तृत्व-कलाका प्रचार कम होनेके कारण इसपर उत्तमोत्तम ग्रन्थ नहीं लिखे गये हैं। अस्तु, वक्ताको अनेक साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

(१७) उत्तम वक्ताओं के व्याख्यान सुनना।

अपनी वक्तृतामें सुधार करनेके लिये उत्तम वक्ताओं के भाषण सुनना भी बड़ा लाभदायक होताहै। जितनी शिक्षा इससे मिलती है उतनी पुस्तकोंके पढ़नेसे नहीं मिलती; क्योंकि उत्तम वक्ताओंके व्याख्यानोंमें ताज़े और उत्तम उदाहरण अनुकरण करनेको मिलजाते हैं। हाँ, उत्तम वक्ताओंमें भी कोई न कोई दोष अवश्य होते हैं। दोषरहित वस्तु संसारमें कोई नहीं है; परन्तु वक्ताको तो उन दोषों को न रखकर उत्तम गुणोंको ग्रहण करना चाहिये, और यदि अपनेमें कोई बुरी टेव हो, तो उसे दूर करना चाहिये।

कई वक्ता ऐसे पक्के (!) अनुकरण-शील होते हैं कि दूसरे की कल्पनाओंको ज्यों का त्यों ग्रहण करलेते हैं, और अपनी नवीन कल्पनाओंको उपजानेका कष्ट नहीं उठाते।

ऐसे वक्ता नकली कहलाते हैं, और वे भविष्यमें अपनी कुछ भी उन्नति नहीं करसक्ते। इसलिये अपनी कल्पना शक्तिसे काम लेना कभी न भूलना चाहिये।

(१८) बोलने का अभ्यास।

सब बातोंका यथाविधि ज्ञान प्राप्त करलेनेके बाद जब मनुष्य वक्तृत्व-कला सीखे, तो पहले उसे सरल बोलना सीखनेका अभ्यास करना चाहिये। सबसे पहले सरल शब्द मुखसे निकालना और फिर वहे शब्द शुद्ध निकालना चाहिये। ऐसा करनेसे, व्याकरणके अनुसार शुद्ध बोलना आजाता है, और पहले पहल सादी रीतिसे बोलनाही आगे व्याख्यान देना सिखाता है। यह रीति बचपन या युवावस्थामें ही उपयोगमें लाकर फिर उसपर वक्तृत्व-कलाकी दीवाल उठानी चाहिये।

इस प्रकार जब उसे सरल रीतिसे बोलना आजावे, तब छोटी २ सभाओंमें व्याख्यान देना आरंभ करना चाहिये; पर इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि अपने घरपर बोलनेका अभ्यास प्रति दिन करना चाहिये। घरमें एक स्थान ऐसा नियत करलेना चाहिये कि जहाँ यह अभ्यास प्रतिदिन होता रहे। इसके सिवा, बाहर खुली हवामें बोलना सीखना भी बड़ा लाभदायक होता है। पहले पहल एकान्तमें बोलना सीखनेसे लज्जाका आवरण हटता जाता है और मनुष्यको अपनी शक्तिका ज्ञान होजाता है। खुली हवामें बोलनेसे दूसरा लाभ यह भी होताहै कि ताज़ी हवा मिलनेसे फेफड़े बलवान बनते हैं, बोलनेकी शक्ति बढ़ती, और शरीरकी सब शक्तियाँ विकसित होती हैं।

(५) व्याख्यानके प्रसंग और उसके स्थान।

व्याख्यान भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न प्रसंगों पर दिये जाते हैं। ऐसे प्रसंगों पर व्याख्यान देनेके स्थान पाँच माने जाते हैं, यथा—

१ "व्यासपीठ", जहाँ धर्म-संबंधी विषयोंपर वाद-विवाद चलता है।

२ "न्यायासन", जहाँ क़ानून-संबंधी वाद-विवाद चलता है।

३ "लोक-नियुक्त-सभा", अर्थात राज्य-प्रबन्ध चलानेवाली पार्लामेंट जैसी महासभा, जहाँ राजकीय विषयों पर वाद-विवाद करके उनका निर्णय किया जाता है।

४ "सार्वजनिक स्थान", जहाँ सार्वजनिक हिताहितकी बातोंकी चर्चा चलती है।

५ "अतिथि-सत्कार-प्रसङ्ग", अर्थात् अपने घर आये हुए मेहमानोंका आदर-सत्कार करनेके लिये बोलना।

प्राचीन समयमें व्याख्यान देनेके स्थल तीन माने गये थे; पर उनसे पूरा काम चलता न देखकर अब ये पाँच स्थान बताये गये हैं जिनका स्पष्ट वर्णन इस प्रकार है—

[१] व्यासपीठ ।

धर्म-सम्बंधी व्याख्यान देते समय वक्ताको बड़ी कठिनाई आ पड़ती है। यह बात प्रसिद्ध ही है कि धर्म-सम्बन्धी व्याख्यानमें साधारण रीतिसे ही बोला जाता है; परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है । वकील आदि को बोलनेके लिये हमेशा ताज़े विषय मिल जाते हैं; और इससे उनके मनमें नवीन विचार उत्पन्न होते रहते हैं। थोड़ा बहुत भाषाका ज्ञान होनेसे उनमें अपने विचार प्रकट करनेका भी सामर्थ्य होता है; इसलिये उनको कुछ भी तैयारी नहीं करनी पड़ती । पर, इतना होनेपर भी, उनके पास एक ही विषय हो, या एक ही विषयपर वे व्याख्यान देते रहें, तो श्रोताओंको उसमें आनन्द नहीं आता । हाँ, अच्छे २ उदाहरण देकर उसी विषयमें यदि नवीनता लाई जाय, तो वह रोचक हो जाता है; और श्रोताओंपर प्रभाव पड़ सकता है। इसी प्रकार धर्मोपदेश देते समय ये सारी बातें काममें लानी पड़ती हैं। जिस मनुष्यका धन्धा सदा धर्म-सम्बंधी व्याख्यान देनेका होता है उसे एक ही विषय हाथमें लेना पड़ता है; और उसपर अपने वेही विचार पुनः पुनः लाने पड़ते हैं, और जब उसे यह मालूम हो जाता है कि मेरे पासकी सामग्री अपूर्ण है, तो उसके अन्तःकरणमें बड़ा खेद होता है। ऐसे समयमें यदि वह अन्य प्रकारकी अद्वितीय शक्तिकी इच्छा करे, तभी उसकी सफलता प्राप्त हो सकती है। उसी विषयमें यदि वह नवीन २ विचार और रसमय भाव उत्तमतासे लावे, तो किसी अंशमें श्रोताओंको वही विषय अच्छा मालूम हो सकता है ।

परन्तु धर्मोपदेशकको यह ख़याल नहीं करना चाहिये कि मेरे एक ही विषयको बारर कहने और उसमें नवीनता लाने से लोग पसन्द नहीं करेंगे। इतना होने पर भी, यदि कोई धर्मोपदेशक अभिमान करे कि मैं श्रोताओंके सामने किसी प्रकारकी तैयारी किये बिना धर्मपर जैसा व्याख्यान देता हूं, वैसा ही विद्वानोंके सामने दे सकता हूं तो यह कहना उसको शोभा नहीं देता; क्योंकि उसकी तात्कालिक तैयारी देखकर विद्वत्-समाज हँसेगा, और उसमें दोष निकालेगा।

धर्मोपदेशकका काम समाजका मन, धर्मकी ओर खींचना है; और वह विचार-शक्तिसे नहीं, बल्कि मनोवृत्तिमें बोलकर खींचना है। जैसे हो वैसे बहुतसे विचारों की झंझटमें न पड़कर श्रोताओंकी मनोवृत्ति अपनी तरफ खींच लेनी पड़ती है। इसलिये प्रौढ़ता, थोड़ा बहुत आवेश, सच्ची लगन, उत्साह आदि गुणोंका समावेश धर्मोपदेशकके व्याख्यानमें होना चाहिये। धर्म-सम्बंधी विषयोंका महत्व बहुत बड़ा होनेसे, उसका प्रतिपादन भी कठिन है। इसलिये अत्यंत आस्थापूर्वक विषयोंका महत्त्व दिखानेकी आवश्यकता है। परन्तु इतनी बातोंपर आस्था रखकर व्याख्यान देना कोई साधारण कार्य नहीं है; क्योंकि गम्भीरता का ज़रा भी बाहुल्य होनेसे उसमें स्थिरता और नम्रता तुरन्त दिखाई देने लगती है; और जिसमें आवेश अथवा सच्ची लगन बतानेकी शक्ति होती है, उसमें गम्भीरताका अभाव रहता है; इसलिये व्याख्यान केवल नाटकके समान दिखाई देता है। ऐसी और भी कई अड़चनें हैं। इसलिये भाषणके विभागोंको जोड़नेके लिये गम्भीरता, आवेश,

आदि गुणोंको एक ही समय दिखानेका धर्मोपदेशकको विशेष ध्यान रखना चाहिये। इस विषयमें 'क्लेअर' ने कितने ही आवश्यक नियम बताये हैं। उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं :—

(१) कोई भी एक मुख्य विषय लेकर उसपर व्याख्यान देना, और अनेक विषयोंका समावेश एक ही व्याख्यानमें नहीं करना।

(२) विषयका मर्यादापूर्वक जितना प्रतिपादन करते बने, उतनी ही सरलतासे वह श्रोताओंके मन पर बैठ जाता है।

(३) मनमें आये हुए सब विषय एकदम नहीं कह डालना चाहिये, और न इसकी आदत ही रखना चाहिये। ऐसी टेव भूलसे भरी है; क्योंकि इससे वक्ताको बहुत झुँझलाहट आजाती है, और भाषण की शक्ति कम होजाती है।

(४) जो कुछ बोलना हो वह मिष्ट और रसमय शब्दों में बोलना चाहिये जिससे श्रोताओंको उपदेश मिले तथा उनका मन रंजित हो।

(५) कई वक्ता एक ही रीतिको पसन्द करके उसीके अनुसार व्याख्यान देना निश्चित कर लेते हैं; परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये; क्योंकि रीतियाँ समयानुसार बदलती रहती हैं; और लोगों की रुचि भी दिन प्रतिदिन बदलती जाती है। लोग जिस बातको आज पसन्द करते हैं उसीको

वकीलोंको दूसरी बात यह भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि जो कुछ वे अपने मनसे बोलें उसपर विश्वास रखें और सोचें कि मेरे बोलनेका प्रभाव न्यायाधीश पर अवश्य पड़ेगा। ऐसा करलेने उसको सफलता मिलेगी। भाषण देनेकी यह पद्धति सबसे श्रेष्ठ है।

जूरीमें बैठे हुए लोगोंकी समझमें न आवे ऐसी भाषामें बोलनेवाले वकील बहुतसे दीख पड़ते हैं; परन्तु ऐसी दुर्बोध भाषामें बोलना उनकी भारी भूल है। वास्तव में, जूरीमें बैठे हुए लोगोंके सामने वही भाषा बोलना चाहिये जो सरलतासे उन सबकी समझमें आजाय। जूरीको उद्देशकर जो बोला जाय वह सरल भाषामें प्रसन्न चित्तसे बोला जाना चाहिये, और उसमें अपने पक्ष की प्रबलता दर्शाना चाहिये। विद्वान् लोगोंकी जूरी हो, तो उस समय भाषण अत्यन्त जोरदार और विचारोंसे परिपूर्ण होना चाहिये। परन्तु यह बात अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि किसी को झुंझलाहट देनेवाला भाषण कभी न देना चाहिये। यदि ऐसा मालूम हो कि लोगोंको झुंझलाहट आरही है, तो अपने व्याख्यान को तुरत समाप्त करदेना चाहिये, इसीमें चतुराई है। ऐसा न करके बराबर बोलते जाना व्यर्थ जाता है, और अपना प्रभाव भी एकदम नष्ट हो जाता है।

न्यायाधीशके सामने बोलने की रीति निराली है; इसलिये विद्वान् और विचारशील पुरुषों को पसन्द आने वाली पद्धति स्वीकार करना चाहिये। अपने विचार और और भाषण बहुत ही मर्यादित होने चाहिये; और

इनकी कल्पना न्यायशास्त्रोंके अनुसरणसे की हुई होनी चाहिये ।

ऐसे अवसर पर बोलनेकी दूसरी रीतिकी ओर लक्ष्य न जाना चाहिये। क्योंकि सत्यतासे बोलना न्यायाधीश न सुनताहो यह बात नहीं है। बोलने की रीतिभाँति जाननेवाले मनुष्य की बात तो निराली ही है। वह अपने मर्यादाशील भाषणमें न्यायाधीशके मन पर जो प्रभाव डाल सकेगा, वैसा और कोई नहीं डाल सकता। उसमें भाषण का परिणाम उत्तम ही होता है। जनताके समक्ष दिये हुए भाषणों की अपेक्षा न्यायाधीशके सामने होने वाले वकीलोंके भाषण बहुत ही कोमल, मर्यादित, और सरल होने चाहियें। इस विषयमें डकेअर मा० विद्वान् वकीलोंको उपदेश देते हैं कि "न्यायके विषयमें प्राचीन समय के लोगोंकी जो वक्तृत्व-पद्धति थी उसका अनुकरण वर्तमान समयमें काम नहीं देता। सिसरो और डिमास्थेनीज़के कामोंमें से कितनी ही बातें इस समय ग्रहण करने योग्य नहीं है। मतलब यह है कि समयके अनुसार पद्धतियों में भी फेरफार होता रहता है।"

डिमास्थेनीज़ और सिसरोके समयमें व्यवहार-संबंधी स्थानिक नियम बहुत थोड़े थे; और जो थे वे बहुत सादे थे। इसलिये उस समयके वकीलोंका लक्ष क़ायदे-कानून, रीति-भाँति और लोगोंके अधिकारों की ओर न हो कर बाह्य बातोंमें ही अधिक था। सिसरोने एक जगह लिखा है कि "मनुष्यको क़ानूनका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तीन महीने पर्याप्त है; और क़ानून न जाननेवाला मनुष्य भी

वहाँके वकालत चला सकता है।" इससे ज्ञात होता है कि उस समय क़ानून किसी गिन्तीमें न था। इसका कारण यह है कि उस समय रोमन लोगोंमें एक ऐसी मंडली थी जिसे क़ायदे-क़ानूनका खूब ज्ञान था और वही किसी प्रसिद्ध वक्ताको क़ानून सिखा देती थी। साधारण वक्ता इससे वंचित रहता था, और उस मंडलीके सिवा और कोई क़ानून जानता नहीं था, इससे वहाँ क़ानूनका प्रचार कम था।

दूसरा कारण यह था कि ग्रीस और रोममें दीवानी और फ़ौजदारीके अफ़सर सबसे अधिक थे। जिस समय सुकरात पर दोषारोपण करके उसकी जाँच अदालतमें प्रारम्भ हुई, उस समय उसके विरुद्ध मत देने वाले २८७ अफ़सर अदालतमें मौजूद थे। इससे कुल न्यायाधीशोंका अंदाज़ा लगाया जा सकता है। ऐसी दशामें रोमन वक्ताओंको अपने वाक्-चातुर्य्यसे न्यायाधीशोंको वशमें करना पड़ता था। वे अपनी दीनता दिखा, एवं लड़-झगड़ कर न्यायाधीशके अन्तःकरणमें दया उत्पन्न करते और अपना काम निकालते थे। परन्तु इस समय यह रीति अच्छी नहीं मानी जाती है।

स्वपक्ष सबल करनेवाले भाषणमें दूसरेका अन्तःकरण द्रवित करनेकी शक्ति और आवेश आना चाहिये। समाजके सामने बोलते समय आवेश सहज हीमें उत्पन्न होता है; परन्तु जूरी या न्याय-सभामें बोलते समय वैसा [illegible]। इसलिये इसका ध्यान रखना चाहिये। इसके [illegible] मन शीघ्रही वक्ताकी ओर खिंच सकता

है। उस समय वकीलको उत्साहसे भी काम लेना चाहिये; क्योंकि हाथमें लिये हुए मुकद्दमेमें यदि वह उत्साह न दिखा कर उदासीनता प्रगट करे, तो उसे पूरा यश नहीं मिलता और उसका धन्धा नहीं चलता है।

राजकर्मचारीकी मण्डलीके सामने दाम्भिक भाषण नहीं देने चाहिए। यहाँ तो अखंड प्रवाह वाले और कुशलतासे भरे भाषण होने चाहिये। पार्लामेंट जैसी सभाओंमें व्याख्यान देनेका प्रसंग भाग्य हीसे मिलता है। एकएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये जुदी २ कल्पना-ओंको रूपकादि अलङ्कारोंसे सजाकर भाषाकी शोभासे श्रोताओंका चित्त रञ्जन करना सुलभ तो है; परन्तु ऐसे अलङ्कारयुक्त भाषण केवल भड़कीले मालूम होते हैं; और इनसे उत्तम परिणाम निकलना असम्भव दिखाई देता है। जनता ऐसे भाषणोंका उपहास करती है। समाजके सामने व्याख्यान देकर श्रोताओंकी मनोवृत्तियाँ उद्दीपित करनेमें जो जो लाभ हैं वे बुद्धिवाद करनेमें नहीं यह बात ध्यानमें रखना चाहिये। इसी प्रकार वक्ताके व्याख्यान में थोड़ा-बहुत विनोद भी होना चाहिये जिससे श्रोताओं को हँसी आवे और व्याख्यानमें उत्तम रस आवे।

[१] सम्मानार्थ भाषण।

अतिथिका आदरपूर्वक सन्मान करते समय जो सम्भाषण किया जाता है उसे सम्मानार्थ भाषण कहते हैं। यह भाषण गौरव-युक्त तथा मीठी वाणीसे होना चाहिये; परन्तु हाँ में हाँ मिलाने वाला नहीं। यह भाषण नीति-विरुद्ध और दाम्भिकता दर्शानेवाला नहीं होना चाहिये,

यह खूब विचारनेकी बात है। ऐसे समयमें बोलनेका मुख्य हेतु सभासदों वा अतिथियोंका मन आकर्षित करनेका होता है; इसलिये बहुत ही चतुराईसे इसका उपयोग करना चाहिये।

[४] सार्वजनिक स्थल।

इस स्थान पर जनताको उद्देश कर सब व्याख्यान दिये जाते हैं। पार्लामेंटके सभासद अपने मतावलम्बी लोगोंमें जो व्याख्यान देते हैं, राजकाज-सम्बन्धी चर्चा चलानेवाली मण्डली जैसे अपना मत प्रगट करती हैं, उन व्याख्यानोंमें लोकमत की ओर लक्ष्य रखकर सभासदोंका मन आकर्षित करनेके लिये जैसे वक्ता प्रयत्न करता है, वैसे ही ये व्याख्यान सार्वजनिक सभाओंमें दिये जाते हैं। व्याख्यान देनेके पहिले वक्ताको यह भी जान लेना आवश्यक है कि श्रोता कैसे हैं, और इनके सामने मुझे किस प्रकार बोलना चाहिये। इस बातको वक्ता जब खूब ध्यानमें रक्खेगा: तभी वह श्रोताओं पर अपना प्रभाव डाल सकेगा। सार्वजनिक सभामें दिये जाने वाले व्याख्यान सादे और ज़ोरदार एवं बोलचालकी भाषाके शब्दों वा उदाहरणोंसे भरपूर होने चाहिये। वक्ताके मनमें चाहे जैसे विचार भरे हों; पर उनको व्यक्त करनेके लिये आबाल वृद्ध वनिता तक समझ सकें-ऐसी सरल भाषा काम में लानी चाहिये। उनमें दृढ़ विचार और बड़प्पन होना चाहिये; और जिस प्रकार एक साधारण मनुष्य बातचीत करता है, उसी प्रकार कहकर समझाना और उस समय मुखसे अश्लील शब्द न निकलने देना चाहिये। इन बातों का ध्यान रखनेवाला वक्ता श्रेष्ठ वक्ता कहलाता है।
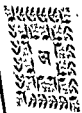
६) व्याख्यान-शैली और उसका संकलन ।
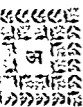
अपना अभिप्राय दूसरे मनुष्योंपर प्रकट करनेके लिये भाषाकी शैलीका कैसे सदुपयोग करना—इस बातके जाननेकी बड़ी आवश्यकता है । जब मनुष्यको इसका ज्ञान हो जाता है, तब वह अपना अभिप्राय दूसरोंको सहज ही में समझा सकता है; इसलिये यहाँ इसका विचार करना ठीक होगा ।

(१) हेतुओं की एकता ।

बड़े २ ग्रन्थकार भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक विषय को हाथमें लेकर पहले उसके विभाग करनेका विचार करना चाहिये । अभिप्रायको अपने भाषणके बीचमें लाकर व्याख्यानके सब विचार करने चाहिये या यों कहिये कि व्याख्यानके भीतर की मुख्य बातें सिद्ध करनी चाहिये और उनको व्यक्त करते समय जो कुछ शब्द वक्ताके मुँहसे निकलें वे अभिप्रायको उत्तेजना देनेवाले होने चाहिये, जिनको सुनकर श्रोता वक्ताके मुख्य अभिप्रायको भलीभाँति समझलें । व्याख्यानके भीतर आवश्यकतासे अधिक कुछ भी न होना चाहिये । इसके लिये व्याख्यानका ऐसा संकलन करना चाहिए कि उसमेंका एकाध भाग यदि भूलसे रहजाय, तो उससे भाषणका समस्त भावार्थ न बिगड़ने पावे । इस प्रकार विषयका संकलन होनेसे, अन्तमें मुख्य

अभिप्राय सुरक्षित रहता है। यदि किसी विषयमें मुख्य अभिप्राय सुरक्षित न रखना हो, या भाषणका कोई भाग व्यर्थ समझा जाय, तो उसे त्याग देना चाहिये—ऐसा सिहरी का भी मत है। इसलिये अपने उद्देशको किसी तरह न बिगड़ने देकर, व्याख्यान देते समय उसे सावधानीसे व्यक्त करना चाहिये। ऐसा न करनेसे उस वक्ताका व्याख्यान श्रोताओंको रुचिकर नहीं होता, और अन्तमें वक्ता की प्रतिष्ठा पर आघात पहुँचता है।

(२) विषयानुक्रमण।

हेतु प्रगट करनेके लिये जो कुछ कहा जाय उसीके संबंधके विचार भी होने चाहिये और उनको चाहे जिस स्थानमें व्यवहार न करके, योग्य स्थानमें ही व्यवहृत करना चाहिये। इसके लिये विषयों की उत्तम अनुक्रमणिका बना लेनी पड़ती है; क्योंकि ऐसा न करनेसे बोलने मे गड़बड़ होजाती है; और चाहे जैसे शब्द मुँहसे निकल कर विषयान्तर होजाता है। जैसे कोई अपरिचित व्यक्ति अँधेरी रातमें मार्ग न पहचान कर चाहे जिधर चला जाता है, वैसेही विषयानुक्रमण बराबर न करनेवाले वक्ताकी दशा होती है। इस विषयमें एडीसन नामके एक विद्वानने अपने "स्पेक्टेटर" ग्रन्थमें लिखा है—"विषयको अव्यवस्थित रखना भारी विद्वानोंका काम है; क्योंकि उनका ज्ञान-भांडार इतना भरा होता है कि जिससे नियमानुसार चलने की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे विद्वानोंको चटकीली भाषा बनानेके लिये शब्दों की खोज नहीं करनी पड़ती वे एक ही स्थितिमें अपने अमृत-वाक्यों की झड़ी लगाकर

श्रोताओंको मुग्ध करदेते हैं। इतने पर भी उनकी विद्वत्तामें कोई न्यूनता नहीं दिखाई देती।" लिखने और बोलनेके काममें यह एकही पद्धति उत्तम होती है; और इसके अनुसार चलनेसे बहुत लाभ होता है। यह पद्धति नवीन २ विचार और युक्तियोंके काममें लानेमें लेखकको बड़ी सहायता देती है। व्याख्यानका नक़्शा चित्तमें खींचलेनेसे मननके द्वारा जो विचारांश उत्पन्न होते हैं वे नहीं होते। पर जब पहले हीसे विषयानुक्रमसे निर्धारित करलिया जाता है, तो विचार समयानुसार एकके बाद एक उत्पन्न होते हैं; और योग्य स्थानमें उनको उपयोग करनेकी भी व्यवस्था समझमें आजाती है। जैसे उत्तम चित्रकारके बनाये चित्र में रंग भर देनेसे वह और भी सुन्दर मालूम होता है, वैसे ही वक्तव्य-विषय-सम्बंधी विचार पहलेहीसे करलेनेसे समय पर वह व्याख्यान बड़ा ही सरस और सुबोध हो जाता है। इससे मालूम पड़ता है कि वक्ता और लेखकों को एक पद्धतिका अनुसरण करना उत्तम है। विषय-रचना उत्तम होनेसे पाठकों और श्रोताओंको उसकी बातें अच्छी तरह समझमें आजाती हैं; और वे ऐसी प्रभावशालिनी होती हैं कि श्रोता या पाठक उनको सहजहीमें माननेको तैयार होजाते हैं। सबसे पहले तो वक्ता का हेतु यह होना चाहिये कि मैं जो कुछ बोल रहाहूं वह श्रोताओंको समझाने के लिये बोल रहाहूं। वैसे तो कई स्थानोंमें बैठे २ कितने ही मनुष्य स्वयं वाद-विवाद किया करते हैं; पर वक्तृत्व-कलाके नियमानुसार कोई वाद-विवाद नहीं करता। इस से कभी २ उनके वाद-विवादों का उलटा परिणाम हो जाता

है। इसलिये वाद-विवाद करते समय प्रत्येक शब्द तौल तौलकर बड़ी ही चतुराईसे बोलना चाहिये।

विद्वानोंका कहना है कि जो मनुष्य अपने विचार सरलतासे दूसरोंको नहीं समझा सका वह चाहे कितना ही बड़बड़ करे; पर उसका बोलना निरा वाक्-पांडित्य समझा जाता है; और उसका कुछ भी फल नहीं होता।

बोलते समय सिलसिला नहीं टूटने देना चाहिये; क्योंकि ऐसा होनेसे वक्ता का मुख्य हेतु श्रोताओं की समझ में ठीक ठीक नहीं आता; और न वे उसका अनुमान ही लगा सकते हैं, और वक्ता भी फिर मनमाने शब्द बोलने की झंझटमें पड़ जाता है।

भाषण-शैली वक्ताके योग्यतानुसार और श्रोताओं की रुचि बढ़ानेवाली होनी चाहिये जिससे वक्ता अपना इच्छित मनोरथ प्राप्त करसके। कई वक्ता इस पद्धतिको पसंद नहीं करते और शब्दोंका दुरुपयोग करके भाषणके अत्युत्तम बनाना चाहते हैं; पर यह उनकी भूल है। ऐसा करनेवाला वक्ता अपनी बुद्धि पर लात मारता है। अतएव वक्ताको चाहिये कि यदि उसने बहुत परिश्रमसे भी भाषण तैयार किया हो, तो भाषण देते समय श्रोताओंको यह बात मालूम न होने दे और अपनी भाषण-पद्धतिमें खूब सावधानी रक्खे।

पुस्तकोंकी भाषा और बोलनेकी भाषामें बड़ा अन्तर होता है। पुस्तक लिखते समय वक्ताको भाषामें व्याकरणके नियमोंका कुछ न कुछ पालन अवश्य करना

पड़ता है; और जहाँ तक होसकता है, वह उसे संक्षिप्त, सरस सरल या शुद्ध बनाने की कोशिश भी करता है; पर बोलनेकी भाषामें इन सब बातों की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। वक्ता अपने इच्छानुसार सुबोध भाषामें अपने वक्तव्य विषय श्रोताओंके सामने रख सकता है।

लिखनेमें मूल अर्थ पर ज़ोर देते हुए जो शब्द और वाक्य लिखे जाते हैं, वैसे यदि भाषणमें बोले जायँ, तो भाषण अत्यन्त सुन्दर हो जाता है, और श्रोताओंको उसमें सरसता उत्पन्न होती है; पर चाहिये श्रोताओंकी एकाग्रता। क्योंकि वाचकोंकी तरह श्रोताओंको बार बार विषयके समझनेका अवकाश नहीं मिलता। वाचक तो यदि चाहें, तो न समझे हुए विषयको फिरसे पुस्तकमें पढ़कर समझ सके हैं; पर श्रोता यदि व्याख्यान सुननेमें असावधानी रक्खे, तो पूरा विषय समझनेमें उन्हें बड़ी कठिनाई मालूम होती है, और वे व्याख्यानसे पूरा लाभ नहीं उठा सकते।

बोलते समय, भिन्न २ प्रसंगों पर, भिन्न २ प्रकारकी भाषा व्यवहृत करनी पड़ती है। साधारण मंडलीमें बैठ कर जिस भाषामें बातचीत की जाती है उससे व्याख्यान की भाषा नहीं मिलती। व्याख्यान देने और लिखनेमें कई स्थलोंपर भाषा बदलनी पड़ती है; और अपने बुद्धि-कौशलसे ठीक काम लेना पड़ता है। क्योंकि मित्र-मंडलीमें तो मनुष्य चाहे जैसे बोल सकता है; पर विस्तृत जन-समूहमें यदि वह बोलनेकी रीतिके अनुसार नहीं बोलेगा, तो उसके बोलनेका कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा; और अन्तमें उसको निराश होना पड़ेगा।

लिखने और बोलनेके विचारोंमें भी जुदी २ रीतियाँ दिखाई देती हैं। जिस मनुष्यमें कुछ आवेश होता है उस की भाषाभी ओजस्विनी होती है; और उसके मुँहसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द जोशीला मालूम होता है। ऐसे वक्ता को सहज हीमें बहुतसे जोशीले शब्द मिल जाते हैं। लिखते समय यदि तुरन्त ही विचार उत्पन्न न हों,तो लेखक थोड़ी देर तक उन्हें सोचता रहता है और फिर लिखनेको क़लम उठाता है; पर व्याख्यानमें यह बात नहीं होती। उसमें वक्तव्य-विषयका आदिसे अन्त तकका विचार पहले ही कर लेना पड़ता है। हाँ, आवश्यकतानुसार तुरन्त विचार उत्पन्न करनेवाली शक्ति भी वक्तामें होनी चाहिये।

(३) सुबोधता ।

व्याख्यानकी भाषा सरल, रसीली और गंभीर होनी चाहिये। वास्तवमें पृथ्वी पर कोई वक्ता नहीं-सब श्रोता ही हैं। जिस समय वक्ता बोलनेको खड़ा होता है, उस समय उसकी ओर हज़ारों आँखें टकटकी लगाये देखने लगती हैं। ऐसे समय यदि सुबोध भाषासे उस टकटकीका संतोष न किया जाय, तो वक्ताका उपहास होता है। इसलिये अपने भाषणमें सुबोधता लानेके लिये वक्ताको छोटे २ वाक्यों और सरल शब्दोंका उपयोग करना चाहिये। इसके विपरीत यदि वह यह समझे कि बड़े २ लंबे-चौड़े वाक्योंमें कठिन २ अप्रचलित शब्दोंको जोड़कर मैं अपना पांडित्य दिखाऊं, तो यह प्रयत्न उसकी बड़ी हँसी कराता है। श्रोताओंका सारा समाज विद्वान् और पढ़ालिखा नहीं होता। उसमें साधारण श्रेणीके पढ़े बेपढ़े लोगभी होते

हैं; इसलिये सबकी समझमें आजानेवाली सरल भाषा बोलना ही वक्ताके लिये श्रेयस्कर है।

अनेक भाषाओंके बेमुहाविरेदार शब्दोंको एक साथ जोड़ देनेसे भाषा सरल और सुबोध नहीं बनती। सबके पहले तो समाज और उसमेंके लोगोंका मन जाँचना चाहिये और देखना चाहिये कि इस समाजके सामने किस पद्धति का अवलम्बन करना पड़ेगा। जब यह बात वक्ताको मालूम होजाय, तो उसीके आधार पर उसे अपना व्याख्यान छेड़ना चाहिये; और इस बातको भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक विषयका असली मतलब कह देनेकी अपेक्षा उसमें रूपक, उदाहरण और प्रमाण देकर समझानेसे श्रोताओं पर अधिक प्रभाव पड़ता है और उससे पढ़े बेपढ़े सब मनुष्य लाभ उठा सकते हैं।

सरल भाषा, विशेषकर वक्ताकी वाक्य-रचना पर आधार रखती है। रचना जितनी सरल और सीधीसादी की जाय, उतनी ही भाषा भी सरल होसकती है। इसलिये वाक्योंको बहुत लंबा न बनाकर छोटा और सरल बनाने का ध्यान रखना चाहिये। और, यदि लंबे वाक्य बनाये बिना काम न चले, तो उनकी रचना ख़ास तौर पर सरल और सुबोध बनाना चाहिये, जिसको सुनकर श्रोता तुरत उसके अभिप्रायको समझ जायँ। वैसे तो मनमें रातदिन विचार उत्पन्न होते हैं; पर उनको ज्योंका त्यों समाजके सामने रखदेनेसे कुछ लाभ नहीं होता, वरन वक्ता बकवादी समझा जाता है। अस्तु; विचारों पर पुनः २ विचार करके अन्तमें परीक्षित विचारोंको समाजके सामने

पसंद करते हैं, वैसा गूढ़-भावार्थी शब्दोंका नहीं करते । वैसे तो दोनों रीतियोंसे बोलते समय, वक्ताके मनमें भाव एक ही होता है; पर कठिन शब्दोंके प्रयोगसे भाषणमें जैसा चाहिये वैसा आनन्द नहीं आता, प्रत्युत वह श्रोताओं को उद्वेगकर हो जाता है । शब्दोंका चुनाव करना न करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर है । वक्ता यदि चाहे, तो अपने भाषणमें ऐसे शब्द रख सकता है जिनसे बहुतसे मतलब निकलते हों । पर व्याख्यानकी सरलता और रसीलापन न जाने देना चाहिये ।

२) मूल अर्थसे भिन्नार्थ-बोधक शब्द—मूल अर्थको हटाकर नवीन अर्थको लानेवाले शब्दोंमें, साहित्यके और उपयोगी शब्दोंको अलङ्कार या रूपकालङ्कार कहते हैं । रूपक वह है जिसमें दो शब्दोंका अर्थ एक ही हो; और एक के बदले दूसरा शब्द काममें लाया जा सके । रूपक और उपमामें थोड़ा ही अन्तर है । उपमामें जो सादृश्य स्पष्ट करके बताया जाता है वह रूपकमें नहीं होता; और होता है, तो गर्भित होता है; जैसे, रूपक- ज्ञानदीप; और उपमा- पर्वतप्राय आदि ।

सरल समझमें आजाने वाले रूपकोंका उपयोग करना चाहिये । यदि रूपकोंका स्पष्ट अर्थ पाठकोंकी समझमें न आवे, तो ऐसे स्थानपर उपमालङ्कारका उपयोग करना उचित है । एरिस्टोटलका कहना है— "वक्ता और लेखकका जो हेतु हो उसीके अनुसार उस विषयमें गुरुत्व तथा लघुत्व लानेके लिये, छोटे-बड़े

रखना चाहिये। इससे वक्ताका गौरव बढ़ता है; और उसकी वक्तृत्व-शक्तिको उत्तरोत्तर सहायता मिलती जाती है।

(४) रसीलापन।

समाजका लक्ष अपनी ओर खींचने और अपने भाव की सत्यताका प्रभाव श्रोताओंके मन पर जमानेके लिये भाषण को रसीला बनानेकी भी बड़ी आवश्यकता है। इसके बिना श्रोताओं की कल्पनाएँ और मनोवृत्तियाँ जाग्रत नहीं होती; और जब ये जाग्रत नहीं होती तो वक्ता अपने भाषणका कुछ भी प्रभाव श्रोताओं पर नहीं डाल सकता। इसलिये, इस विषयमें नीचे लिखी तीन बातें वक्ताको अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये,—

(१) शब्द-संकलन– 'आर्च विशप व्हेटले' ने इसके दो विभाग किये हैं। पहले विभागमें मूलार्थको ज्योंका त्यों प्रकट करने वाले शब्द रक्खे हैं; और दूसरे विभाग में, वे शब्द माने हैं जिनके कहनेसे मूलअर्थ प्रकट न हो कर भिन्नही अर्थ निकलता हो; या साधारण भाषणमें उनका अलग ही उपयोग करना पड़ता हो। बस, इन दोनों विभागों पर दृष्टि रखकर वक्ताको अपना भाषण सरस बनाना चाहिये।

(२) मूल अर्थके योग्य शब्द— शब्दोंका चुनाव करनेका नियम यह है कि जिन शब्दोंसे मूल अर्थ भलीभाँति प्रकट होता हो ऐसे शब्द चुनने चाहिये। श्रोता इन शब्दों से युक्त रसीली और ओजस्वी व्याख्यान जैसा

पसंद करते हैं, वैसा गूढ़-भावार्थी-शब्दोंका नहीं करते। वैसे तो दोनों रीतियोंसे बोलते समय, वक्ताके मनमें भाव एक ही होता है; पर कठिन शब्दोंके प्रयोगसे भाषणमें जैसा चाहिये वैसा आनन्द नहीं आता, प्रत्युत वह श्रोताओं को उद्वेगकर हो जाता है। शब्दोंका चुनाव करना न करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। वक्ता यदि चाहे, तो अपने भाषणमें ऐसे शब्द रख सकता है जिनसे बहुतसे मतलब निकलते हों। पर व्याख्यानकी सरलता और रसीलापन न जाने देना चाहिये।

) मूल अर्थसे भिन्नार्थ-बोधक शब्द—मूल अर्थको हटाकर नवीन अर्थको लानेवाले शब्दोंमें, महत्वके और उपयोगी शब्दोंको अलङ्कार वा रूपकालङ्कार कहते हैं। रूपक वह है जिसमें दो शब्दोंका अर्थ एक ही हो; और एक के बदले दूसरा शब्द काममें लाया जा सके। रूपक और उपमामें थोड़ा ही अन्तर है। उपमामें जो सादृश्य व्यक्त करके बताया जाता है वह रूपकमें नहीं होता; और होता है, तो गर्भित होता है; जैसे, रूपक-ज्ञानद्वीप; और उपमा- पर्वतप्राय आदि।

सदा समझमें आजाने वाले रूपकोंका उपयोग करना चाहिये। यदि रूपकोंका स्पष्ट अर्थ पाठकोंकी समझमें न आवे, तो ऐसे स्थानपर उपमालङ्कारका उपयोग करना उचित है। एरिस्टोटलका कहना है—"वक्ता और लेखकका जो हेतु हो उसीके अनुसार उस विषयमें गुरुत्व तथा लघुत्व लानेके लिये, छोटे-बड़े

पदार्थों को अलङ्कारादिमें लेकर रूपक बनाना चाहिये। रूपकोंके द्वारा विषय गौरवयुक्त या तिरस्कारयुक्त बनाया जा सकता है। किसी विषयके महत्वका भाव बताते समय रूपकका उपयोग करनेसे भाषणमें बहुत रस आजाता है और उसकी ओर जनताका ध्यान विशेष रूपसे खिंच जाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय गोचर पदार्थोंके भीतर बुद्धिगम्य पदार्थोंको व्यक्त करके बतानेमें रूपकोंकी योजना की जाय, तो भाषामें बहुत ही रसीलापन और प्रौढ़ता आती है। इसमें भी विशेष रस, निर्जीव पदार्थमें सजीव पदार्थोंका रूपक देनेसे आता है। निर्जीवमें सजीवता है ऐसा वर्णन करनेसे भाषामें बहुत ही प्रौढ़ता और रसीलापन आता है। प्रत्येक विषयमें रूपक ऐसी खूबीसे आने चाहिये कि जिससे नवीनता और अपूर्वता भली भाँति झलका करे; और उससे वह विषय सरलतासे खिल जाय। क्योंकि साधारण शब्दोंमें रूपक तथा शब्द बार २ सुननेसे श्रोताओंका मनोरञ्जन नहीं होता इसलिये पुरानी बातमें नवीनता लानेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। पर, इस बातको भी नहीं भूलना चाहिये कि रूपक तोड़ मरोड़कर बनाये हुए न हों और अलङ्कारिक तथा दृष्टांतिक कथाओं सरीखे भी न हों।

(४) विशेषण।

अपना भाषण जोशीला और रसीला बनानेके लिये वक्ताको जितने विशेषण मिल सकें उतनोंका यथोचित

व्यवहार करना चाहिये । अलङ्कार-शास्त्रके भीतर प्रत्येक विशेषणका उपयोग, प्रत्येक गुणवाचक शब्दको पूरा करनेवाला होता है । कई बार कितने ही वक्ता या लेखक अपने भाषण या लेखमें इतने विशेषण लगा देते हैं जिससे उनकी सारी सरसता नष्ट होकर उनमें कुछ भी जोशीलापन नहीं रहता । इसलिये विशेषणोंका योग्य स्थानमें उचित उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार व्याख्यानमें आपसे इति तक उत्तेजक शब्दोंका समावेश करनेमें भी विशेष ध्यान रखना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वह एक ही रीति श्रोताओं को बुरी मालूम होने लगती है । जैसे प्रतिदिन एक ही प्रकारका भोजन करते रहनेसे मनुष्यको अरुचि सी हो जाती है और बदलकर भोजन करना अच्छा लगता है, उसी प्रकार का अनुभव श्रोताओं तथा वाचकोंको भी होता है । जैसे कोमल वृक्षकी शाखाएँ अधिक धूप लगने से जल जाती हैं, वैसेही व्याख्यानमें कई जगह एक ही रीतिसे बोलनेमें व्याख्यानका रसीलापन नष्ट होजाता है; और श्रोता उसको पसन्द नहीं करते। इसलिये, भिन्न २ प्रकारसे श्रोताओंको अपना विषय समझाना चाहिये ।

(६) अन्य भाषाओंके अप्रचलित शब्द ।

अन्य भाषाओंके प्रचलित शब्दोंका तो आजकल सब जगह व्यवहार होता है; और कभी कभी उनका पर्यायवाची हिन्दी शब्द ढूँढना कठिन हो जाता है। ऐसे शब्द काममें लाने ही पड़ते हैं, चाहे वे किसी भी भाषाके हों; पर अन्य भाषाके अप्रचलित शब्दोंका व्यवहार लाभदायक नहीं होता । हाँ, यदि कोई आडम्बर या धूर्त्तता से ऐसे शब्द भाषणमें

कर सकता है।

(६) भाषा-सौन्दर्य।

जिस प्रकार उपरोक्त बातोंकी आवश्यकता है, उसी प्रकार भाषा-सौन्दर्यकी भी है; परन्तु वे ही बातें भाषा-सौन्दर्यमें लाना उपयोगी नहीं है। कभी कभी ऐसा होता है कि भाषामें सुन्दरता लानेके लिये कितनी ही वाक्य-रचना रसीलेपनकी बाधक हो जाती है; और उससे बची-खुची भाषाकी सुन्दरता भी नष्ट हो जाती है। ऐसे समय भाषा-सौन्दर्यकी तरफ़ विशेष लक्ष न रखकर भाषाको रसीला और जोशीला बनानेवाले शब्दोंकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। विषयका विस्तार करनेवाले अनुचित और अश्लील वाक्य मुखसे न निकलें; तो भाषाकी सुन्दरता सहज ही बढ़ जाती है। फिर, यदि भाषणमें रस कम मालूम पड़े, तो उसकी परवाह न करके सावधानीसे भाषणमें सुन्दरता लाने की चेष्टा करनी चाहिये।

(१०) अलङ्कार।

सब भाषणोंमें अलङ्कारका उपयोग होना उचित है; क्योंकि कोरी बातें कहनेमें लोगोंका मन अपनी तरफ़ नहीं खिंचता; इसलिये समयानुसार सरल और उचित अलङ्कारों का उपयोग भाषणोंमें करना ही पड़ता है। परन्तु, अलंकारोंका योग्य स्थान पर ही उपयोग होना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय, तो श्रोताओंका मन आकर्षित करनेके लिये बड़ी चतुराईके उदाहरण देने पड़ते हैं। प्रामाणिक जो गुण है वही सच्चा अलङ्कार है। इसलिये, निर- ...से युक्त भाषण देनेसे, श्रोता केवल वक्ताके मुँह

की ओर देखते रहते हैं; और उनको भाषणमें कुछ भी आनन्द नहीं मिलता ।

पर्वीटलियन नामका ग्रन्थकार कहता है कि "अपने भाषणकी शोभा बढ़ानेके लिये उसमें आवेश, सभ्यता और पवित्रता होनी चाहिये; परन्तु ये गुण नाजुक न हों। युवक-गणकी अपने भाषणमें बहुतसे अलङ्कार मिला देना चाहते हैं; पर ऐसा करना ठीक नहीं। अलङ्कारोंकी योजना तो योग्य स्थान पर ही भली मालूम होती है। वक्ता भाषा-का कवि माना जाता है। उसकी कल्पनाशक्ति कविकी कल्पना शक्ति जैसी होनी चाहिये। मनुष्यको रूपक जैसे प्रिय होते हैं, वैसा कुछ भी प्रिय नहीं होता। इसके प्रमाण की विशेष आवश्यकता नहीं है। आप अपने अनुभवकी बातको रूपक और अलङ्कारके साथ कहिये, तो सारा समाज उसपर मुग्ध हो जायगा। इससे सिद्ध होता है कि चाहे जैसी सादी बात हो; पर यदि वह रूपकके साथ कही जाय, तो वह मनोमोहक बन जाती है और उसको सब लोग माननेके लिये तैयार होजाते हैं। रूपकोंसे वक्ताकी स्मरण-शक्ति दृढ़ होती है। दृष्टांत और रूपकोंसे युक्त बात बहुत दिनों तक चित्तमें बनी रहती है।

वक्ताको बार २ एक ही प्रकारके शब्दोंका उपयोग नहीं करना चाहिये। जिन सुन्दर शब्दोंको वह कई बार बोल चुका हो, उनका उपयोग करते रहनेसे व्याख्यान नीरस होजाता है; और वक्ताके मुँहसे ऐसे वैसे शब्द अनायास ही निकल जाते हैं जिनको सुनकर श्रोताओंको अरुचि होजाती है। इसलिये, शब्द संग्रह करके नये २ शब्दोंका उपयोग

पदार्थों को अलङ्कारादिमें लेकर रूपक बनाना चाहिये रूपकोंके द्वारा विषय गौरवयुक्त या तिरस्कारयुक्त बनाया जा सकता है। किसी विषयके महत्वका भाव बताते समय रूपकका उपयोग करनेसे भाषामें बहुत रस आजाता है और उसकी ओर जनताका ध्यान विशेष रूपसे खिंच जाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-गोचर पदार्थोंके भीतर बुद्धिगम्य पदार्थोंको व्यक्त करके बतानेमें रूपकोंकी योजना की जाय, तो भाषामें बहुत ही रसीलापन और प्रौढ़ता आती है। इससे भी विशेष रस, निर्जीव पदार्थमें सजीव पदार्थोंका रूपक देनेसे आता है। निर्जीवमें सजीवता है ऐसा वर्णन करनेसे भाषामें बहुत ही प्रौढ़ता और रसीलापन आता है। प्रत्येक विषयमें रूपक ऐसी खूबीसे आने चाहिये कि जिससे नवीनता और अपूर्वता भली-भाँति झलका करे; और उससे वह विषय सरलतासे खिल जाय। क्योंकि साधारण शब्दोंमें रूपक तथा शब्द बार २ सुननेसे श्रोताओंका मनोरञ्जन नहीं होता। इसलिये पुरानी बातमें नवीनता लानेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। पर, इस बातको भी नहीं भूलना चाहिये कि रूपक तोड़ मरोड़कर बनाये हुए न हों और अलङ्कारिक तथा दृष्टांतिक कथाओं सरीखे भी न हों।

(४) त्रि—

बनानेमें त्रि
वर्णित

श्रोताओंका ध्यान व्याख्यान सुननेमें खूब लगा रहे।

छोटे २ वाक्योंको श्रोता जैसा पसन्द करते हैं वैसा बड़े २ वाक्योंको नहीं करते. वरन ऐसे वाक्योंसे व्याख्यानका विषय सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आता। अच्छे शब्द-संग्रहसे छोटे२ वाक्योंकी रचना सहज ही में हो सकती है; पर बड़े २ वाक्योंकी रचना करनेका प्रयत्न करना ठीक नहीं। ऐसे वाक्य, विस्तार-दोष कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त, संक्षिप्त रूपसे कहनेमें कुछ संकोच भी मालूम होता है; और शब्द-भाण्डार अल्प होने से वक्ता निर्भयताके साथ अपने विषयका प्रतिपादन नहीं कर सकता। इसलिये, और २ बातें सीखनेके साथ ही, वक्ताको यथाशक्ति शब्दोंका अच्छा संग्रह रखनेका भी प्रयत्न करना चाहिये।

(८) शब्द-रचना।

शब्दरचना योग्य होनेसे भाषण सरस और प्रौढ़ दिखाई देता है। कहावत है कि "मनको भाई सो सबको भाई"। इस कहावतके अनुसार प्रत्येक विषय, वक्ताके अन्तःकरणमें भाया हुआ होना चाहिये; और उसीके अनुसार वह उत्तमोत्तम शब्दों द्वारा मुखसे निकलना चाहिये। जब मनुष्य अन्तःकरणमें चुभी हुई बात बाहर निकालता है, तो वह कैसी भी भाषामें क्यों न हो, सुननेवालों पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता और वक्ता सहजही में सफलमनोरथ होजाता है। इसलिये, पहले तो विषयको अन्तःकरणमें बैठाना और फिर सुन्दर शब्दोंके द्वारा उसको श्रोताओंके सामने रखना चाहिये। इस रीतिका अवलम्बन करने वाला वक्ता, सदैव अपने विषयका भले प्रकार प्रतिपादन

लावे, तो भाषणमें प्रौढ़ता आना तो दूर रहा, श्रोताओंको उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। परंतु, यह मानना पड़ेगा कि प्रान्तिक भाषाके प्रचलित शब्द लिये बिना किसी भाषा का पूरा काम नहीं चल सकता। होमर कविके काव्योंमें भी प्रान्तिक भाषाके प्रचलित शब्दोंका अधिक समावेश है।

(७). शब्द-संख्या।

अल्पाक्षरं रमणीयं यः कथयति निश्चितं स खलु वाग्मी।
बहुवचनमल्पसारं यः कथयति विप्रलापी सः॥

वक्ताके मनमें हास्यरस, विनोद, गांभीर्य या जोश आदि जैसा भाव हो; पर वह जितना सूक्ष्म रूपसे प्रदर्शित किया जायगा भाषणमें उतनी ही सरसता आवेगी। तथापि ऐसे कितने ही विषय होते हैं जिनका विस्तार किये बिना काम नहीं चलता। ऐसे समय जोशीले और सरसतासे प्रतिपाद्य विषयका संक्षिप्त वर्णन किया जाय, तो सफलता नहीं होती; इसलिये उसका विस्तार करना ही पड़ता है। अस्तु, यह बात सिद्ध होती है कि वक्ताके पास जितना विस्तृत शब्द-भाण्डार होगा, उतना ही वह अपने भाषणको घटा बढ़ाकर रुचिकर बना सकेगा। यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि वाचकोंकी अपेक्षा श्रोताओंको बार बार विषय समझनेका अवकाश नहीं मिलता। पाठक तो फिरसे पुस्तक पढ़कर अपना समाधान कर सकते हैं; पर यदि श्रोताओंका ध्यान व्याख्यानसे हट जाय, तो फिर उन को बड़े चक्करमें पड़ना होता है। इसके लिये यथासम्भव वक्ताको खूब ध्यान रखना चाहिये। वक्ताके पास ऐसे सरल शब्दोंका समूह होना चाहिये कि जिनके यथाक्रम प्रयोगसे

श्रोताओंका ध्यान व्याख्यान सुननेमें खूब लगा रहे ।

छोटे २ वाक्योंको श्रोता जैसा पसन्द करते हैं वैसा बड़े २ वाक्योंको नहीं करते, वरन ऐसे वाक्योंसे व्याख्यानका विषय सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आता । अच्छे शब्द-संग्रहसे छोटे२ वाक्योंकी रचना सहज ही में हो सकती है; पर बड़े २ वाक्योंकी रचना करनेका प्रयत्न करना ठीक नहीं । ऐसे वाक्य, विस्तार-दोष कहलाते हैं । इसके अतिरिक्त, संक्षिप्त रूपसे कहनेमें कुछ संकोच भी मालूम होता है; और शब्द-भाण्डार अल्प होने से वक्ता निर्भयताके साथ अपने विषयका प्रतिपादन नहीं कर सकता। इसलिये, और २ बातें सीखनेके साथ ही, वक्ताको यथाशक्ति शब्दोंका अच्छा संग्रह रखनेका भी प्रयत्न करना चाहिये ।

(८) शब्द-रचना ।

शब्दरचना योग्य होनेसे भाषण सरस और प्रौढ़ दिखाई देता है। कहावत है कि "मनको भाई सो सबको भाई" । इस कहावतके अनुसार प्रत्येक विषय, वक्ताके अन्तःकरणमें भाया हुआ होना चाहिये; और उसीके अनुसार वह उत्तमोत्तम शब्दों द्वारा मुखसे निकलना चाहिये । जब मनुष्य अन्तःकरणमें चुभी हुई बात बाहर निकालता है, सो वह कैसी भी भाषामें क्यों न हो, सुननेवालों पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता और वक्ता सहजही में सफलमनोरथ होजाता है । इसलिये, पहले तो विषयको अन्तःकरणमें बैठाना और फिर सुन्दर शब्दोंके द्वारा उसको श्रोताओंके सामने रखना चाहिये । इस रीतिका अवलम्बन करने वाला वक्ता, सदैव अपने विषयका भले प्रकार प्रतिपादन

कर सकता है।

(९) भाषा-सौन्दर्य।

जिस प्रकार उपरोक्त बातोंकी आवश्यकता है, उसी प्रकार भाषा-सौन्दर्यकी भी है; परन्तु वे ही बातें भाषा-सौन्दर्यमें लाना उपयोगी नहीं है। कभी कभी ऐसा होता है कि भाषामें सुन्दरता लानेके लिये कितनी ही वाक्य-रचना रसीलेपनकी बाधक हो जाती है; और उससे बची-खुची भाषाकी सुन्दरता भी नष्ट हो जाती है। ऐसे समय भाषा-सौन्दर्यकी तरफ़ विशेष लक्ष न रखकर भाषाको रसीला और जोशीला बनानेवाले शब्दोंकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। विषयका विस्तार करनेवाले अनुचित और अश्लील वाक्य मुखसे न निकलें; तो भाषाकी सुन्दरता सहज ही बढ़ जाती है। फिर, यदि भाषणमें रस कम मालूम पड़े, तो उसकी परवाह न करके सावधानीसे भाषणमें सुन्दरता लाने की चेष्टा करनी चाहिये।

(१०) अलङ्कार।

सर्व भाषणोंमें अलंङ्कारका उपयोग होना उचित है; क्योंकि कोरी बातें कहनेसे लोगोंका मन अपनी तरफ़ नहीं खिंचता; इसलिये समयानुसार सरल और उचित अलङ्कारों का उपयोग भाषणोंमें करना ही पड़ता है। परन्तु, अलंकारोंका योग्य स्थान पर ही उपयोग होना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय, तो श्रोताओंका मन आकर्षित करनेके लिये वही चतुराईके उदाहरण देने पड़ते हैं। प्रामाणिक बातमें जो गुण है वही सच्चा अलङ्कार है। इसलिये, निरर्थक अलङ्कारोंसे युक्त भाषण देनेसे, श्रोता केवल वक्ताके मुँह

की ओर देखते रहते हैं; और उनको भाषणमें कुछ भी आनन्द नहीं मिलता।

फर्वीटलियन नामका ग्रन्थकार कहता है कि "अपने भाषणकी शोभा बढ़ानेके लिये उसमें आवेश, सभ्यता और पवित्रता होनी चाहिये; परन्तु ये गुण नाजुक न हों। युवक-मण्डली अपने भाषणमें बहुतसे अलङ्कार मिला देना चाहती है; पर ऐसा करना ठीक नहीं। अलङ्कारोंकी योजना तो योग्य स्थान पर ही भली मालूम होती है। वक्ता साधारण कवि माना जाता है। उसकी कल्पनाशक्ति कविकी कल्पना शक्ति जैसी होनी चाहिये। मनुष्यको रूपक जैसे प्रिय होते हैं, वैसा कुछ भी प्रिय नहीं होता। इसके प्रमाण की विशेष आवश्यकता नहीं है। आप अपने अनुभवकी बातको रूपक और अलङ्कारके साथ कहिये, तो सारा समाज उसपर मुग्ध हो जायगा। इससे सिद्ध होता है कि चाहे जैसी छोटी बात हो; पर यदि वह रूपकके साथ कही जाय, तो वह मनोमोहक बन जाती है और उसको सब लोग माननेके लिये तैयार होजाते हैं। रूपकोंसे वक्ताकी स्मरण-शक्ति दृढ़ होती है। दृष्टांत और रूपकोंसे युक्त बात बहुत दिनों तक चित्तमें बनी रहती है।

वक्ताको बार २ एक ही प्रकारके शब्दोंका उपयोग नहीं करना चाहिये। जिन सुन्दर शब्दोंको वह कई बार बोल चुका हो, उनका उपयोग करते रहनेसे व्याख्यान नीरस होजाता है; और वक्ताके मुँहसे ऐसे वैसे शब्द अनायास ही निकल जाते हैं जिनको सुनकर श्रोताओंको अरुचि होजाती है। इसलिये, शब्द संग्रह करके नये २ शब्दोंका उपयोग

अपने भाषणमें करना चाहिये।

(११) विनोद।

भाषणमें थोड़ा-बहुत विनोद भी होना चाहिये जिससे श्रोताओंका मन प्रसन्न होकर व्याख्यान सुननेमें लगे। जब कोई व्याख्यान या कथा नीरस होती है, तो उस समय वक्ताके मुँहसे दो चार हँसीके शब्द सुनकर श्रोतागण प्रसन्न हो जाते हैं और उनका मन ताज़ा हो जाता है। परन्तु, विनोदकी भी मर्यादा होनी चाहिये; और वह श्रोताओंको रुचता हुआ ही होना चाहिये, नहीं तो अर्थके बदले बड़ा अनर्थ हो जाता और भाषणका सब रङ्ग बिगड़ जाता है। चतुर और विद्वान् मण्डलीके सामने विशेष हास्य अच्छा नहीं होता; इसलिये अवसर देखकर विनोद करना चाहिये; और जो कुछ विनोदी शब्द कहे जायँ, वे युक्तिपूर्ण होने चाहिये। प्रतिपक्षियोंके विषयमें हँसीके जो शब्द कहे जायँ वे सारपूर्ण हों; और उनमें ऐसा सहृदय हो जिससे व्यर्थ ही प्रतिपक्षीका अपमान न हो। यदि ऐसा न किया जाय, तो वक्ताकी हँसी होने लगती है; और जो २ बातें वह दूसरोंकी हँसी करनेमें कहता है उन्हें श्रोता उसीकी हँसीमें समझ लेते हैं। इसलिये इस विषयमें बहुत सावधानी रखकर उत्तम विनोद करना चाहिये जिससे श्रोताओं का मनोरञ्जन हो, व्याख्यान सुननेमें उनका चित्त लगे और वक्ताके प्रति अनुराग उत्पन्न हो।

वक्ताको अपने भाषणमें, अश्लील शब्द उपयोग करके बीभत्सता न लानी चाहिये। जिन गुणोंसे भाषणकी शोभा नहीं बढ़ती उनके विषयमें मि० श्रु० ग कहते हैं— "भाषणमें

अप्रचलित वाक्य रचकर और दूसरोंके मन दुखानेवाले दृष्टांत देकर भाषण की शोभा बढ़ाना बड़ी ही भूलका काम है"। वास्तवमें ऐसे भाषण विचार-शून्य गिने जाते हैं, और उनमें श्रोताओंको आनंद नहीं मिलता।

क्वींटिलियनने अपनी पुस्तकके उपसंहारमें कहा है —"पद-रचना प्रौढ़ और मनोहर करनी चाहिये। और उसके क्रम, परस्पर सम्बन्ध और तात्पर्य्य-इन तीन बातों पर विद्यार्थियों को खूब ध्यान रखना चाहिये।" मुख्य मुख्य पद-रचनामें मिलाने और मूल रचनाको पुनः नवीन करने से प्रतिपाद्य विषयमें अनुकूलता आजाती है। इससे, विषय का मनन करके विवेचन करनेमें वक्ताको खूब ध्यान रखना चाहिये। परन्तु, श्रोताओंको यह नहीं मालूम होने देना चाहिये कि वक्ता अपने विषयका पहलेसे खूब अध्ययन करके आया है, और जितनी बातें कह रहा है वे रटी हुई हैं। क्योंकि ऐसा होनेसे श्रोताओं पर व्याख्यानका कुछभी असर नहीं पड़ता।

पद-रचना की सच्ची परीक्षा कानोंसे होती है। कानोंमें उसकी ध्वनि पड़ते ही भले बुरेकी परीक्षा होजाती है। इसमें कुछ न्यूनता होती है, तो वह अनिष्टता दिखाई देती है; उसके कटु-शब्द कष्टदायक लगते हैं; मृदु शब्दोंसे सरलता होती है और रीत्यनुसार उसके बाहर शब्द भले मालूम होते हैं। पद-रचनाकी न्यूनता कानोंसे समझी जाती है; और आवश्यकतासे अधिक रचना कानोंको अच्छी नहीं लगती। पद-रचना की सच्ची बड़ी विद्वान् लग तो अपनी कर्णेन्द्रियोंसे समझ लेते हैं; पर अन्य लोगोंको

को यह मनोरंजक ही मालूम होती है।

(१२) काल-मर्यादा।

व्याख्यान बहुत बड़ा या बहुत छोटा न होकर मध्यम प्रकारका होना चाहिये। यदि छोटा हो तो उसे थोड़ा बड़ा, और बड़ा हो तो छोटा करने का प्रयत्न करना चाहिये। पर, उनमें वक्ताके सब उत्तम विचार आजाने चाहिये; क्योंकि विचारों की अपेक्षा शैलीका महत्व कम है। विचारशैली तो विचारों को सरल करनेकी रीति है; पर मुख्य महत्व विचारों का ही है; इसलिये उनको उत्तम बनाने के लिये वक्ताको खूब ध्यान रखना चाहिये। क्वींटिलियन का मत है कि- "शब्दयोजना की ओर लक्ष रखनेसे नहीं, बलिक व्याख्यान-विषय पर आस्थापूर्वक विचार करनेसे वक्ताको यश मिलता है।" अस्तु, व्याख्यान को ऐसा बनाना चाहिये कि वह निश्चित समयमें समाप्त हो जावे, और वक्ताके कोई भी उत्तम विचार छूटने न पावें।

(७) व्याख्यानके विभाग ।

प्रसिद्ध डाक्टर ब्लेयरका मत है कि किसी भी विषय पर व्याख्यान देनेके पहले, उस विषय के छै विभाग कर लेने चाहिये; और फिर प्रत्येक भाग पर थोड़ा थोड़ा व्याख्यान देना चाहिये। अब वे छै भाग नीचे लिखे जाते हैं:—

१ – प्रस्तावना ।
२ – विषय-निर्देश ।
३ – विवरण ।
४ – युक्तिवाद, या अपना पक्ष सिद्ध करनेके लिये शंका-समाधान-रूपी अनेक युक्तियों की रचना ।
५ – चित्त क्षोभक और हृदयद्रावक भाग ।
६ – उपसंहार ।

साधारण तौर पर किसी भी विषयका मनन करते समय, विशेष कर इसी अनुक्रमके अनुसार, प्रत्येक वक्ताको भिन्न २ रीतिसे विचार करना पड़ता है । विषय चाहे जैसा हो, उस पर विचार करते हुए थोड़ा बहुत फेरफार अवश्य करना पड़ता है, और कभी २ उसमेंसे कितना ही मुख्य भाग छोड़ देना पड़ता है । ऐसे समय निश्चित नियमों को बदल दिये जाते, और प्रसंगके अनुसार उसमेंसे कुछ

को यह मनोरंजक ही मालूम होती है।

(१२) काल-मर्यादा।

व्याख्यान बहुत बड़ा या बहुत छोटा न होकर मध्यम प्रकारका होना चाहिये। यदि छोटा हो तो उसे थोड़ा बड़ा, और बड़ा हो तो छोटा करने का प्रयत्न करना चाहिये। पर, उनमें वक्ताके सब उत्तम विचार आजाने चाहिये; क्योंकि विचारों की अपेक्षा शैलीका महत्व कम है। विचारशैली तो विचारों को सरल करनेकी रीति है; पर मुख्य महत्व विचारों का ही है; इसलिये उनको उत्तम बनाने के लिये वक्ताको खूब ध्यान रखना चाहिये। क्वींटिलियन का मत है कि- "शब्दयोजना की ओर लक्ष रखनेसे नहीं, बल्कि व्याख्यान-विषय पर आस्थापूर्वक विचार करनेसे वक्ताको यश मिलता है।" अस्तु, व्याख्यान को ऐसा बनाना चाहिये कि वह निश्चित समयमें समाप्त हो जावे, और वक्ताके कोई भी उत्तम विचार छूटने न पावें।

(७) व्याख्यानके विभाग ।

प्रसिद्ध डाक्टर ब्लेयरका मत है कि किसी भी विषय पर व्याख्यान देनेके पहले, उस विषय के छै विभाग कर लेने चाहिये; और फिर प्रत्येक भाग पर थोड़ा थोड़ा व्याख्यान देना चाहिये। अब वे छै भाग नीचे लिखे जाते हैं:—

१ – प्रस्तावना ।
२ – विषय-निर्देश ।
३ – विवरण ।
४ – युक्तिवाद, या अपना पक्ष सिद्ध करनेके लिये शंका-समाधान-रूपी अनेक युक्तियों की रचना ।
५ – चित्त वेधक और हृदयद्रावक भाग ।
६ – उपसंहार ।

साधारण तौर पर किसी भी विषयका कथन करते समय, विशेष कर इसी क्रमके अनुसार, प्रत्येक वक्ताको भिन्न दलीलोंसे विचार करना पड़ता है । विषय चाहे जैसा हो, उस पर विचार करते ही थोड़ा बहुत फेरफार अवश्य करना पड़ता है, और कभी २ इसमेंसे
कुछ भाग छोड़ देना पड़ता है । ऐसे कल्प
भी बदल दिये जाते, और प्रसंगके

बढ़ाये जा सकते हैं। इसलिये वक्ताको चाहिये कि उपरोक्त नियमोंका यथास्थान सदुपयोग करें; और अपनी बुद्धिसे सावधानतापूर्वक काम लें। जैसे युद्धमें सेना खड़ी करते समय आगेके एक दलको सामने खड़ा करना पड़ता है, सेनाके दोनों पक्षों पर, रक्षाके लिये घुड़सवार रखने पड़ते हैं और तत्सम्बंधी सब नियमोंका पालन सेनाध्यक्षको करना पड़ता है; पर समयानुसार उन नियमोंमें फेरफार भी किया जाता है; क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय और एकही पद्धति से काम लिया जाय, तो लाभके बदले हानि उठानी पड़ती है, इसी प्रकार जन-समूहके सामने व्याख्यान देते समय भी व्यवस्थाएँ बदलनी पड़ती हैं; और प्रसंगानुसार नवीन युक्तियाँ, कल्पनाएँ और संकलन भी बदलने पड़ते हैं। इससे मालूम होता है कि वक्तृत्वके भिन्न २ भागोंमें रचना और संकलन ये दोनों भाग बड़े महत्वके हैं। जिस प्रकार मूर्त्तिका ढाँचा तैयार करके यदि उसके भिन्न २ अवयव यथास्थान न बिठाये जाँय, तो उसे मूर्त्तिका नाम नहीं दिया जाता, और वह अधूरी मूर्त्ति भयंकर मालूम होती है, इसी प्रकार व्याख्यानमें भिन्न २ विभाग यथास्थान न बिठानेसे वह अधूरा और खंडित मालूम होता है। इससे, इस विषयमें खूब ध्यान रखनेकी आवश्यकता है।

(२) प्रस्तावना।

किसी भी कार्यका आरंभ उत्तम होनेसे ऐसा मालूम होता है कि मानों वह काम आधा होगया है। इसलिये पूर्वाङ्ग प्रस्तावना को उत्तम बनानेके लिये वक्ताको खूब ध्यान रखना चाहिये। प्रस्तावना निश्चित करनेके पहिले,

तीन बातों का निश्चय करलेना पड़ता है; और ये तीन बातें उत्तम होनेसे प्रस्तावना उत्तम प्रकारसे बैठानेमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। उन तीन बातोंमेंसे मुख्य महत्त्व की बात यह है कि श्रोताओंका अन्तःकरण प्रसन्न कर अपने विषयमें उनका अनुकूल मत करना और भाषणमें अहंकार न आने देकर उसको मर्यादित बनाना चाहिये। इसी प्रकार श्रोतृ-समाजकी कुछ २ प्रशंसा भी करते जाना चाहिये कि जिससे वह अपने अनुकूल होजावे। दूसरी बात यह है कि श्रोतागण सावधानी और शान्तिसे अपना व्याख्यान सुनें—इसके लिये वक्ताको वक्तृव्य विषयका महत्त्व बताकर संक्षेपमें व्याख्यान देना, उसके सम्बन्धमें अपना मत निवेदन करना और जिस तरह विषयका विवेचन करना हो उस का दिग्दर्शन करना चाहिये। ऐसा करनेसे श्रोताओंका चित्त विषय की ओर अधिक आकर्षित होता है। तीसरी बात यह ध्यानमें रखनी चाहिये कि श्रोताओंको अत्यन्त तल्लीन बनाकर उनके अन्तःकरणको इतना अपने वशमें करलेना कि उनसे चाहे जैसी बात कही जाय वे उसे मानने के लिये एकदम तैयार होजाँय। अपने विषयमें उनमें इतनी पूज्य बुद्धि उत्पन्न करदेना चाहिये कि जिससे वे "कानधरी छेरी" बनजाँय। वक्ताके स्वीकृत मतके विरुद्ध यदि कोई बात पहलेसे ही श्रोताओंमें उत्पन्न होगई हो, तो पहले उसे जड़-मूलसे निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेसे श्रोताओंका मन अपनी ओर खींचनेमें विलंब नहीं लगता।

प्रस्तावनाके लिये भिन्न२ वक्ताओंमें भिन्न २ रीतियाँ

प्रचलित हैं, तथापि इस बातको कभी न भूलना चाहिये कि प्रत्येक प्रसंगमें, प्रसंगके अनुसार; विषयके अनुकूल और श्रोताओं की स्थितिके अनुसार व्याख्यान देना होता है। कोई २ वक्ता खड़े होते ही प्रस्तावना न करके, इकदम निरूपण करने लगजाते हैं और घड़ी भरके लिये श्रोताओं को चकित करदेते हैं; पर उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। एक बार मि० ओकेनेल ने अपने भाषण के आरंभ में कहा-"मैं एक धर्मगुरु हूं, और हाउस आव् लार्डस को उपदेश देने आया हूं।" इसी प्रकार मि० रोबक एक बार अपने भाषण के आरंभमें ही कह बैठे कि "क्यों न राजनीति के संबन्धमें कुछ कहा जाय? वह तो मेरा विषय है-उस पर मैं अवश्य कहूंगा।" इन महाशयों की आरंभमें ही ऐसी बातें सुनकर श्रोता बहुत हँसे, और अन्तमें इनको पछताना पड़ा।

मुख्य नियम तो यह है कि व्याख्यानका आरंभ बहुत धीरे और नम्रतापूर्वक करना चाहिये। यह नियम आजकलका नहीं है— पहलेसे ही चला आता है। इस नियमके अनुसार, व्याख्यान जितना धीमा और नम्र होगा, उतना ही वक्ता श्रोताओंका मन सरलता से वशमें कर सकेगा। इसलिये वक्ताको सभ्य और विनययुक्त रीति से व्याख्यान आरंभ करना आवश्यक है। उद्दंड बर्ताव करनेसे वक्ताको घमंडी जान कर श्रोतागण उसकी तरफ लक्ष नहीं रखते। प्रस्तावनामें निरर्थक वाक्य लाना बड़ी मूर्खताका काम है—वक्ताको इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये।

व्याख्यानके आरंभमें अतिशय आवेश नहीं लाना चाहिये; क्योंकि अन्तमें वह आवेश ज्योंका त्यों रहना कठिन है। इसमें ऊँचेसे धीरे २ नीचे गिरनेका डर रहता है। और, पहले खूब आडम्बर बता कर पीछे उसका न बतानेसे वक्ता की हँसी होती है। हाँ, कुछ प्रसंगोंमें यदि थोड़ा आडम्बर भी किया जाय, तो वह निभ सकता है; पर प्रस्तावनाके आशय समझाने की रीति बहुत ही सरल और रोचक होनी चाहिये। वह खींचातानी करके विषय के प्रतिकूल न होनी चाहिये। पहले विषयका खूब मनन करके सरल भाषामें प्रस्तावना तैयार करना बुद्धिमानोंका काम है। यदि ऐसा न करके पहले हीसे प्रस्तावना करने की रीति हस्तगत की जाय, तो विषयमें स्थिरता नहीं आती। प्रस्तावनामें जो होता है, वह विषयमें नहीं होता, और विषयमें जो कुछ होता है वह प्रस्तावनामें नहीं होता। विषयका नियम निश्चित किये बिना प्रस्तावना करनेसे वक्ताको उसके जोड़का विषय ढूंढ़ना पड़ता है, या विषयको लेकर फिरसे नवीन प्रस्तावना तैयार करनी पड़ती है। प्रसिद्ध वक्ता सिसरोका कहना है कि "अपने लिये निश्चित किये हुए नियमके अनुसार न चलनेसे बड़ी गड़बड़ मच जाती है। मैं पहले विषयका मनन और उसके साधन स्थिर करके फिर प्रस्तावना करनेका विचार करता था। यदि मैं पहले ही प्रस्तावना करनेकी झंझटमें पड़जाता, तो विषय स्थिर करने और उस पर स्वतंत्र विचार करनेका मुझे अवसर ही न मिला होता।" इस प्रकार पहले विषयका खूब मनन करने पर, प्रस्तावना तैयार करनेमें विशेष श्रम नहीं पड़ता

और उसके साधन बराबर मिलते जाते हैं।

प्रस्तावनाकी भाषा शुद्ध और निर्दोष होनी चाहिये। प्रस्तावनाको निर्दोष बनानेके लिये शब्द-रचनाका जितना ध्यान रखना पड़ता है, उतना व्याख्यानके किसी भागमें नहीं रखना पड़ता। आरंभमें गुण, दोष और विवेचन की ओर श्रोताओंका जितना लक्ष होता है उतना विषय की ओर नहीं होता। प्रस्तावनामें वे यह नहीं देखते कि वक्ता क्या कह रहा है, वरन इस बातका पूरा ध्यान रखते हैं कि वह कौन कौन सी भूलें कर रहा है, और उसके बोलनेका ढंग कैसा है। इसलिये प्रस्तावना ऐसी होनी चाहिये कि जिसको सुनतेही श्रोताओंका चित्त आकर्षित होजावे, और उनको वक्तव्य विषय सुनने की उत्कंठा उत्पन्न हो।

विषयका अति, महत्त्वका भाग प्रस्तावना में नहीं लाना चाहिये; क्योंकि इससे पीछेके वर्णनमें रहस्य और चमत्कार नहीं दीखता। यदि विषय की मुख्य२ बातें प्रस्तावनामें कहदी जाँय, तो पीछे श्रोताओंको चकित करने वाला मसाला कुछ नहीं रहता। विषयके मुख्य२ अभिप्राय यथास्थान रखनेसे श्रोताओं पर उत्तम प्रभाव पड़ता है। इससे विषय जितना छोटा बड़ा हो, उसीके अनुसार प्रस्तावना होनी चाहिये। जैसे एक छोटीसी इमारतके पास बड़ा स्तंभ खड़ा करदेनेसे वह ठीक नहीं दिखता, उसी प्रकार बेजोड़ प्रस्तावना भी श्रोताओंको खटकती है, और उस समय वे वक्ताकी विद्वत्ता वा चतुराई का अन्दाज़ा लगा लेते हैं। इसलिये विषयके अनुकूल और व्याख्यानके विभागोंको न बिगाड़नेवाली प्रस्तावना करनेका वक्ताको

सदा अभ्यास रहना चाहिये ।

न्यायाधीशके सामने प्रस्तावना-स्वरूप जो दो चार शब्द कहे जाँय उनमें प्रतिपक्षी का दोष निकालनेवाली कोई बात नहीं होनी चाहिये । प्रतिपक्षी की बातका खंडन करनेके लिये जो भाषण दिया जाय उसकी प्रस्तावना बहुत ही सरल और रसमय होनी चाहिये । इस विषय का विचार घर पर नहीं होता, बल्कि उसी समय करना पड़ता है; और जो वक्ता इसमें कुशल होता है उसकी प्रशंसा होती है ।

(२) विषय-निर्देश।

वक्तव्य विषयके सम्बन्धमें वक्ताको आगे क्या कहना है—यह बात विषय-निर्देश से जानी जाती है; इसलिये यह बहुत ही सरल होना चाहिये । जितना यह स्पष्ट, सरल और सादी रीतिसे कहा जायगा, उतनी ही शीघ्रतासे श्रोताओंके मनमें, आगे आने वाले विषयके स्वरूपकी कल्पना हो सकेगी । इस प्रकार की हुई रचना सबसे उत्तम गिनी जाती है; अतएव विषय-निर्देशके सम्बन्धमें इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

(३) विषय-विभाग।

विषयका निर्देश करनेके पश्चात्, विवेचन-योग्य मुख्य शाखाओंका आरंभ करनेमें प्रत्येक विषय की शाखाएँ नहीं निकालनी पड़तीं । एकाध प्रकरण का विचार करना हो, तो पहलेसे शाखाएँ निकालने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, धर्मसंबंधी व्याख्यानोंके विषयमें सदा ऐसे पृथक २ भाग पहलेसे ही किये जाते हैं; परंतु इसमें भी मतभेद है। आर्व

और उसके साधन बराबर मिलते जाते हैं।

प्रस्तावनाकी भाषा शुद्ध और निर्दोष होनी चाहिये। प्रस्तावनाको निर्दोष बनानेके लिये शब्द-रचनाका जितना ध्यान रखना पड़ता है, उतना व्याख्यानके किसी भागमें नहीं रखना पड़ता। आरंभमें गुण, दोष और विवेचन की ओर श्रोताओंका जितना लक्ष होता है उतना विषय की ओर नहीं होता। प्रस्तावनामें वे यह नहीं देखते कि वक्ता क्या कह रहा है, वरन इस बातका पूरा ध्यान रखते हैं कि वह कौन कौन सी भूलें कर रहा है, और उसके बोलनेका ढंग कैसा है। इसलिये प्रस्तावना ऐसी होनी चाहिये कि जिसको सुनतेही श्रोताओंका चित्त आकर्षित होजावे, और उनको वक्तव्य विषय सुनने की उत्कंठा उत्पन्न हो।

सदा अभ्यास रहना चाहिये।

न्यायाधीशके सामने प्रस्तावना-स्वरूप जो दो चार शब्द कहे जाँय उनमें प्रतिपक्षी का दोष निकालनेवाली कोई बात नहीं होनी चाहिये। प्रतिपक्षी की बातका खंडन करनेके लिये जो भाषण दिया जाय उसकी प्रस्तावना बहुत ही सरल और रसमय होनी चाहिये। इस विषय का विचार घर पर नहीं होता, बल्कि उसी समय करना पड़ता है; और जो वक्ता इसमें कुशल होता है उसकी प्रशंसा होती है।

(२) विषय-निर्देश।

वक्तव्य विषयके सम्बन्धमे वक्ताको आगे क्या कहना है—यह बात विषय-निर्देश से जानी जाती है; इसलिये यह बहुत ही सरल होना चाहिये। जितना यह स्पष्ट, सरल और सादी रीतिसे कहा जायगा, उतनी ही शीघ्रतासे श्रोताओंके मनमें, आगे आने वाले विषयके स्वरूपकी कल्पना हो सकेगी। इस प्रकार की हुई रचना सबसे उत्तम गिनी जाती है; अतएव विषय-निर्देशके सम्बन्धमें इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

(३) विषय-विभाग।

विषयका निर्देश करनेके पश्चात्, विवेचन-योग्य मुख्य शाखाओंका आरंभ करनेमें प्रत्येक विषय की शाखाएँ नहीं निकालनी पड़तीं। एकाध प्रकरण का विचार करना हो, तो पहलेसे शाखाएँ निकालने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, धर्मसंबंधी व्याख्यानोंके विषयमें सदा ऐसे पहलेसे ही किये जाते हैं; परंतु इसमें भी

विग नामक विद्वान् ने अपने वक्तृत्व-संबंधी ग्रन्थमें इसको अग्राह्य माना है। उनका कहना है कि यह रीति हालहीमें पैदा हुई है। पूर्व समयके लोग ऐसा नहीं करते थे। जब लोग धर्मसम्बन्धी उपदेशके साथ अध्यात्मज्ञान का विषय मिलाने लगे तभीसे यह नवीन रीति निकली है। इस रीतिसे धर्म-विषयक व्याख्यान देनेसे बिलकुल रस नहीं आता, और श्रोताओंका मन विषयकी ओर आकर्षित नहीं होता।" परन्तु इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि विषय-विभाग से धर्मके व्याख्यानोंमें शोभा ही आती है; और उससे स्पष्टता तथा सरलतासे मतलब समझा जा सकता है। धर्मोपदेश करनेका मुख्य हेतु उपदेश देना होता है; इसलिये विषय-विभागसे श्रोताओं को पूरा लाभ होता है। और, ऐसे भाग करके उनपर बोलनेसे पूरा व्याख्यान, आदि से अन्त तक, श्रोताओंके ध्यानमें बना रहता है; और उनका चित्त भाषण सुननेमें बराबर लगा रहता है। फिर चाहे वक्ता कितनी ही जल्दी बोले; पर विषयका मूल वे अन्त तक नहीं भूलते।

सुनते रहते हैं। जैसे एक थके हुए पथिक को थोड़ा विश्राम मिलनेसे आगे चलने की उमङ्ग आजाती है, उसी प्रकार विषयके प्रत्येक भागका वर्णन सुनकर श्रांत श्रोताओंको विश्राम मिलता है, और आगेका विवेचन सुननेकी उत्कंठा उत्पन्न होजाती है।

इस बातको सब कोई जानते हैं कि हस्तगत कार्य, सरल और हलका होनेसे, सहज हीमें चाहे जहाँ समाप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार, विषय-विभाग कर वक्तव्य विषयको सरल करलेनेसे उसपर वक्ताका पूर्ण अधिकार रहता है; और वह अपने इच्छानुसार उस विषय को श्रोताओंके सामने रख सकता है। डा० व्हेयरने एक जगह यह भी कहा है कि विषयके भिन्न भिन्न विभाग करने से उनका पारस्परिक संबंध जाता रहता है; परन्तु यह बात सर्वांशमें माननेके योग्य नहीं। हाँ, यदि वक्ता इसमें भूल कर बैठें, तो ऐसा होना संभव है। मूल विषयके प्रतिपादन में तो कभी एकता नहीं रहती; पर विषय-विभागोंको उत्तम बनानेसे उनमें अन्तर नहीं आता और उनका विवेचन भी उत्तम ही होता है। विषयका ऐक्य-भाव कभी नहीं जाता, बल्कि प्रत्येक भागमें मुख्य सूत्र एक ही होनेसे, वह उनकी मिलावट भलीभाँति प्रकट कर सकता है।

इन बातोंसे सिद्ध होता है कि धर्मके, वकीलोंके और अन्य प्रकारके व्याख्यानोंमें विषय-विभाग पहले करने से पूरा विवेचन हो सकता है। इसके संबंधके उपयोगी नियम नीचे लिखे जाते हैं:—

(अ) विषय-विभाग करते समय पहले इस बातका ध्यान

रखना चाहिये कि एकका दूसरेमें समावेश न होने पावे; जैसे, "सद्गुणोंसे होने वाला लाभ" और "नियमित रूपसे होने वाला लाभ" ये दोनों वाक्य एक ही स्वरूपके हैं; और इन्हें दो भाग कभी न गिनना चाहिये; क्योंकि सद्गुणोंमें सारे उत्तम गुणों का समावेश हो सकता है। नियमित रूप एक उत्तम गुण है और सद्गुणोंमें इसका भी समावेश होना चाहिये। अस्तु, ऐसे विभाग करनेसे विषय-विवेचन अस्पष्ट और अव्यवस्थित हो जाता है।

स्वाभाविक रीतिसे जितने भाग हो सकें उतने ही करने चाहिये। आरंभमें सरल भाग, जो सहजही में समझे जा सकें, कहने चाहिये, और उनके समझने में सुभीता देखकर उन्हींके आधार पर दूसरे भाग निकालना चाहिये। "ऐसा तोड़ो जो छिन्न-भिन्न न हो," इस कहावतके अनुसार विषयोंकी खींचा-तानी न करके साधारण तौर पर बोध-गम्य विभाग करना चाहिये। इससे विषयका मूल हेतु नहीं बिगड़ता।

सब विभागोंके अवयव एक दूसरेसे संबंध रखने वाले होने चाहिये। यदि ऐसा न हो, तो समझना चाहिये कि विषय-विभाग उत्तम रीतिसे नहीं हुए। जैसे घरके सब कोने आदि देखे बिना उसका पूर्ण आकार समझमें नहीं आता, उसी प्रकार अपूर्ण परिच्छेदसे विषयका संपूर्ण स्वरूप लोगों की समझ में नहीं आता।

(१) विभागों को संक्षेपमें बताना और पहलेसे ही उन को लम्बा नहीं करना चाहिये। उनको सुनानेके लिये आवश्यकतासे अधिक एक भी शब्द नहीं कहना चाहिये, तथा वक्ताकी वर्णन-शैली मर्यादित और नियमित होनी चाहिये; क्योंकि इससे विषय-विभाग नियम-बद्ध मालूम होते हैं, और उनके स्पष्ट विचार संक्षेपमें बतानेसे श्रोता वक्तव्य विषयको समझ लेते हैं।

(ठ) विभागोंके उप-विभाग नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे व्याख्यान शोभा नहीं देता। हाँ, शास्त्र-सम्बन्धी भाषणोंमें तो ऐसा हो सकता है; पर साधारण भाषणोंमें ऐसा करने से वह भाषण श्रोताओं को नीरस लगता है; और वे उसपर लक्ष रखने में हिचकिचाते हैं। इसके सिवाय, अनुपयोगी विभाग एवं उप-विभागके स्पष्टीकरण करने से वक्ताकी स्मरणशक्ति अकारण ही त्रास पाती है। इसलिये जहाँ तक हो सके, ऐसा नहीं करना चाहिये।

(४) कथानक या विवरण।

ये दोनों भाग भी व्याख्यानके अवयवीभूत है। दोनोंको एक ही स्थान पर रखनेका कारण इतना ही है कि इनका हेतु साधारण तौर पर एकसा होता है। इस हेतुसे, युक्तिपूर्वक वादविवाद करके श्रोताओं को विश्वास दिलाने और उनकी मनोवृत्ति रंजित करनेके पहले विषयका स्पष्टीकरण भलीभाँति रखना पड़ता है।

(म) वकालत—न्यायसभा (अदालत) में वकीलोंको कई प्रसंगोंपर बोलना पड़ता है। यहाँ किसी भी विषय के निरूपण करनेका काम कठिन है; क्योंकि यहाँ केवल सत्य हीका अवलम्बन करके बोलना नहीं पड़ता, बल्कि जिससे अपने पक्षीको लाभ हो और वह जीते वैसा ही बोलना पड़ता है। फिर जो बात कही गई हो उसपर वकीलको बोलना पड़ता है। इस समय वह सत्यकी मर्यादा उल्लंघन न कर अपने पक्षकी ओर न्यायाधीशका मन खींचता है, और प्रतिपक्षियों की बातोंका खण्डन करता है; इसलिये इस काममें बड़ी चतुराई और बुद्धिमानी की आवश्यकता पड़ती है। क्वींटिलियन का कथन है कि इस काममें अपने दाँव-पेंच, प्रकट न हो जाँय इसका वक्ताको खूब ध्यान रखना चाहिये: क्योंकि जिस समय वकील किसी विषयका निरूपण करने लगता है, उस समय न्यायाधीश बहुत शान्त चित्तसे सुनता है; इसलिये वकीलोंको अपना बनावटीपन प्रकट न होने देना चाहिये। वकील जो कुछ कह रहा है वह सत्य है और उसकी ओर से उसमें कुछ मिलावट नहीं है—ऐसा न्यायाधीशके अन्तःकरणमें बैठ जाना चाहिये। इसी प्रकार व्याख्यानमें आनेवाली बातें संभव होनी चाहिये, और उस संबंधमें जो कुछ कहा जाय वह स्पष्ट, मर्यादित और सत्यदर्शी होना चाहिये। तभी वकील प्रशंसापात्र होता है।

आ) उपदेश-पीठ——धर्मके व्याख्यानोंमें विशेष कर कथानकों की आवश्यकता नहीं पड़ती, उनमें तो वक्तव्य विषयका ही विवेचन करना पड़ता है; पर वह भी कथानकके तौर पर मर्यादित, सरल, रसमय और स्पष्ट होना चाहिये । धर्मके व्याख्यानोंमें अलंकारों की विशेष आवश्यकता नहीं होती । ऐसे व्याख्यान तो सरल और प्रौढ़ होनेसे ही उत्तम समझे जाते हैं । ग्रन्थोंके मतका उचित अर्थ करके स्पष्ट रीतिसे श्रोताओं को समझाना, और वक्तव्य विषयमेंसे ग्रहण करने योग्य गुण या धर्मके स्वरूप का पूरा ज्ञान उनको कराना ही मुख्य महत्वका भाग होता है । प्रत्येक भागकी छाप जब उत्तम रीतिसे बैठा ली जाती है, तभी श्रोताओं को विश्वास होता है, और उनका मन आकर्षण करने में जो अड़चनें आ पड़ती हैं वे तत्काल दूर होजाती हैं । धर्म-विषयक व्याख्यान देने और उसका प्रभाव श्रोताओं पर डालनेकी कुंजी यही है कि विषयका मनन पहलेसे भलीभाँति करना और उचित रीतिसे समझमें आनेवाले विषयको लोगों के सामने रखना चाहिये । ऐसा करनेसे [illegible]

और दूसरे किसी विषयके साथ कितना सम्बन्ध है, और उनमें क्या अन्तर है–यह भी बताना चाहिये। इसी ढंगसे तुलना करनेके लिये और भी कई बातों को लेकर उनसे अपने विषयकी समानता या विषमता देखना और उपयोगी दृष्टान्त देकर विषय का प्रतिपादन करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि श्रोताओंके मन पर जो मत बिठाना हो उसके आसपासके विषयका संक्षिप्त और उत्तम ज्ञान देनेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे श्रोताओंका मन विषयकी ओर तुरन्त आकर्षित हो। इस रीतिका अवलंबन करनेसे विशेष लाभ तो यह होगा कि उपदेशक की वाक्य-रचनामें त्रुटि होने पर भी, व्याख्यान भारी, बोध-युक्त और उपयुक्त गिना जायगा। इसलिये वक्ताको यह रीति अवश्य ग्रहण करनी चाहिये।

(४) बुद्धि-वाद।

वक्ता चाहे जिस स्थानमें भाषण देवे या उसका विषय चाहे जैसा हो, प्रामाणिक भाषण-पद्धति किंवा बुद्धिवादसे भाषण देनेसे उसको बड़ा लाभ होता है। क्योंकि वक्तृत्वका मुख्य हेतु श्रोताओंका मन आकर्षित करना होता है और वह बुद्धिवादके बिना हो नहीं सकता। इस विषयमें क्लेयर साहब कहते हैं–"इस विषयमें ख़ास तौर पर तीन बातों पर खूब ध्यान रखना चाहिये। एक तो प्रमाण की योजना उत्तम ढंगसे हो, दूसरे उनकी योग्य संकलना करके उनको योग्य स्थानमें बैठाना, और तीसरे

उनका प्रभाव बराबर डालनेके लिये ज़ोरदार भाषा का प्रयोग करना चाहिये।*

प्रमाणोंकी योजना—यह बात नहीं है कि प्रमाणोंकी व्यवस्था करनेमें अतिशय कुशलता काममें लानी पड़ती हो। विषयका पूर्ण ज्ञान हो चुकने पर, जो प्रमाण या आधार मिलें उनकी योग्य व्यवस्था करनेमें कदाचित् कुछ त्रुटि रह जानी पड़े तो कोई हानि नहीं; परन्तु विषय का ज्ञान बिलकुल न होने से एकदम प्रतिपादन करने के लिये प्रमाण खोजने में कोई भी युक्ति काम नहीं देगी। क्यों-कि विश्वसनीय प्रमाण ढूँढ़ने और ढूँढ़े हुए को योग्य स्थान पर घटाने में बड़ा अन्तर है। योग्य स्थान पर प्रमाणोंको घटाना साहित्य-शास्त्रके आधार से सहज ही में हो सकता है-इस बातको प्राचीन शास्त्र-वेत्ता भी मानते हैं। साहित्य-शास्त्र ऐसा शास्त्र है जिसके अध्ययन से वक्ताको बड़ा लाभ होता है। नवीन प्रमाण कैसे ढूँढ़ना, ढूँढ़े हुए की भूल कैसे निकालना, और किस जगह कैसे प्रमाणोंके आधार पर योजना— ये सारी बातें साहित्य-शास्त्रसे अध्ययनसे मालूम हो जाती हैं। इसका अभ्यास करनेवाला वक्ता प्रकट रूपसे बोलने में कभी नहीं हिचकिचाता और धड़ाकेसे व्याख्यान देता है। साहित्य-शास्त्रके आधार पर कितने ही विषयोंको लागू पड़नेवाले साधारण नियम और विचार अलग ही निकाल लेने पड़ते हैं। ऐसा सिसरो, एरिस्टोटल और क्विंटिलियन आदि के ग्रन्थोंमें हुआ है, जिससे आज भी वे उच्च आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं और उनसे वक्ताओंको बड़ी सहायता मिल सकती है।

और दूसरे किसी विषयके साथ कितना सम्बन्ध है, और उनमें क्या अन्तर है—यह भी बताना चाहिये। इसी ढंगसे तुलना करनेके लिये और भी कई बातों को लेकर उनसे अपने विषयकी समानता या विषमता देखना और उपयोगी दृष्टान्त देकर विषय का प्रतिपादन करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि श्रोताओंके मन पर जो मत बिठाना हो उसके आसपासके विषयका संक्षिप्त और उत्तम ज्ञान देनेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे श्रोताओंका मन विषयकी ओर तुरन्त आकर्षित हो। इस रीतिका अवलंबन करनेसे विशेष लाभ तो यह होगा कि उपदेशक की वाक्य-रचनामें पुष्टि होने पर भी, व्याख्यान भारी, बोध-युक्त और उपयुक्त गिना जायगा। इसलिये वक्ताको यह रीति अवश्य ग्रहण करनी चाहिये।

(४) बुद्धि-वाद।

वक्ता चाहे जिस स्थानमें भाषण देवे या उसका विषय चाहे जैसा हो, प्रामाणिक भाषण-पद्धति किंवा बुद्धिवादसे भाषण देनेसे उसको बड़ा लाभ होता है। क्योंकि, वक्तृत्वका मुख्य हेतु श्रोताओंका मन आकर्षित करना होता है और यह बुद्धिवादके बिना हो नहीं सकता। इस विषयमें क्लेयर साहब कहते हैं—"इस विषयमें ख़ास तौर पर तीन बातों पर ख़ूब ध्यान रखना चाहिये। एक तो प्रमाण की योजना उत्तम ढंगसे हो, दूसरे उनकी योग्य संकलना करके उनको योग्य स्थानमें बैठाना और तीसरे

उनका प्रभाव बराबर डालनेके लिये ज़ोरदार भाषा का प्रयोग करना चाहिये ।"

प्रमाणोंकी योजना—यह बात नहीं है कि उपरोक्त बातोंकी व्यवस्था करनेमें अतिशय कुशलता काममें लानी पड़ती हो। विषयका पूर्ण ज्ञान हो चुकने पर, जो प्रमाण या आधार मिलें उनकी योग्य व्यवस्था करनेमें कदाचित् कुछ बुद्धि लड़ानी पड़े तो कोई हानि नहीं; परन्तु विषय का ज्ञान बिलकुल न होने से, एकदम प्रतिपादन करने के लिये प्रमाण खोजने में कोई भी युक्ति काम नहीं देती। क्योंकि विश्वसनीय प्रमाण ढूंढ़ने और ढूंढ़े हुए को योग्य स्थान पर बैठाने में बड़ा अन्तर है। योग्य स्थान पर प्रमाणोंको बिठाना साहित्य-शास्त्रके आधार से सहज ही में हो सकता है-इस बातको प्राचीन शास्त्र-वेत्ता भी मानते हैं। साहित्य-शास्त्र ऐसा शास्त्र है जिसके अध्ययन से वक्ताको बड़ा लाभ होता है। नवीन प्रमाण कैसे ढूंढ़ना, ढूंढ़े हुए की भूल कैसे निकालना, और किस जगह कैसे प्रमाणोंके आधार पर बोलना— ये सारी बातें साहित्य-शास्त्रके अध्ययनसे मालूम हो जाती हैं। इसका अभ्यास करनेवाला वक्ता प्रकट रूपसे बोलने में कभी नहीं हिचकिचाता और धड़ाकेसे व्याख्यान देता है। साहित्य-शास्त्रके आधार पर कितने ही विषयोंको लागू पड़नेवाले साधारण नियम और विचार अलग ही निकाल लेने पड़ते हैं। ऐसा सिसरो, एरिस्टोटल और क्विंटिलियन आदि के ग्रन्थोंमें हुआ है, जिससे आज भी वे ग्रन्थ आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं और उनसे वक्ताओंको बड़ी सहायता मिल सकती है।

व्याख्यानकी यह कृत्रिम रीति ग्रीशियन चार्वाक (नास्तिकों का एक पन्थ) ने निकाली थी। वास्तव में इन सामान्य विचारोंकी योजनामें उन्होंने बड़ी चतुराईका काम किया है। इनके बाद, साहित्य-शास्त्रके जो २ वेत्ता हुए उनकी भी आँखें इन आविष्कारकों की विशाल बुद्धि को देखकर चकित होती रहीं। पीछे से उन्होंने भी इन विचारोंका इतना प्रचार किया कि जन-समुदायमें यह एक प्रकार की पद्धति मानी जाने लगी; और इसकी सहायतासे कुछ बुद्धि वा गुण न मिलने पर भी, प्रत्येक वक्ता इससे लाभ उठाने लगा। इससे नये विचार तो मिलते नहीं; पर श्रोताओंका खूब मनोरञ्जन होता है। यथार्थ पूँछा जाय तो जिस विषयकी जानकारी पहले से खूब हो जाती है उसी पर व्याख्यान देना अच्छा होता है। ऐसे भाषण जितने उपयोगी, मनोमोहक और प्रभाव-शाली होते हैं उतने दूसरे नहीं होते।

प्रमाणोंकी व्यवस्था—प्रमाणोंकी व्यवस्था बराबर होने से भी वक्ताको बड़ा लाभ होता है। बुद्धिवाद किंवा विचार दौड़ाने की दो रीतियाँ हैं। एक तो, प्रकरण-पद्धति, या मूल-तत्व-शोधन-पद्धति; और दूसरी, संयोजन-पद्धति। अपने मनमें जो २ सिद्धांत स्थापित करने हों उनको एक एक ओंके सामने रखने के लिये जबतक वक्ता अपने सिद्ध नहीं कर लेता, तबतक वे सिद्धान्त स्था- हो सकते— यह पहली पद्धति है। एक के बाद क्रमानुसार सिद्ध करके अन्तमें मूल सिद्धान्तों ; और फिर एकदम अमुक २ सिद्धान्तोंको भिन्न

भिन्न रीतिसे श्रोताओंको समझाना और उनसे मान्य कराना चाहिये। जैसे—"ईश्वर है" इस बातको स्थापित करना हो, तो पहले यों कहना चाहिये कि "इस स्थानमें हम जो कुछ देख रहे हैं यह मूल है। अब इस मूलका प्रतिपादन करने के लिये कुछ कारण भी होना चाहिये, और कार्य-कर्त्ता भी कोई होना ही चाहिये। मनुष्यकी उत्पत्तिमें जो कुछ विलक्षण चतुराई दीख पड़ती है उसके देखने से मालूम होता है कि इसका रचयिता कोई सर्व-गुण-सम्पन्न व्यक्ति होगा। अस्तु, सिद्ध होता है कि ईश्वर है; और सृष्टिकी रचना करनेमें उसका कुछ न कुछ हेतु अवश्य है।" इस प्रकार भिन्न भिन्न कारणोंका प्रतिपादन करके प्रत्येक बातको सिद्ध करके बताना चाहिये। सुकरातके भी बुद्धिवादकी यही पद्धति थी। इसी पद्धतिसे वह तत्कालीन नास्तिकोंके मतों का खण्डन करता था। किसी बातकी सत्यतामें शङ्का करनेवालों के मनकी शङ्का निकालकर उनको पूरा विश्वास दिलाने के लिए यह पद्धति बहुत ही उपयोगी है। परंतु, इस रीतिसे बुद्धिवाद करने योग्य बहुत से विषय नहीं मिलते, इससे सब स्थानोंमें इसका बराबर उपयोग नहीं होता। हाँ, संयोजन-पद्धति बहुधा वादविवाद करने की सीढ़ी होती है। इस पद्धतिमें का मूल सिद्धान्त कहकर, फिर एक के बाद एक प्रमाण दे, उसको सिद्ध कर बताना पड़ता है। किसी भी बात पर वादविवाद करना हो, तो उसमें जो प्रमाण वक्ताको उत्तम जँचे उन्हींके द्वारा श्रोताओं को वशीभूत करने का प्रयत्न करना चाहिये। वक्ताको चाहिए कि वह अपने को श्रोता समझकर अपने निकाले हुए प्रमाणों

की जाँच करें और देखे कि वे उसको पसन्द आते हैं या नहीं। इस बातका निर्णय हो जाने के बाद, उन प्रमाणों को प्रकट करना चाहिये, नहीं तो केवल अपने वाक्-चातुर्य से ही लोगोंको मोहित करने का विचार कभी नहीं करना चाहिये। कितने ही वक्ताओंमें जन-समुदायको समझाने की इच्छा होती है; परन्तु इससे बहुधा जन-समुदाय वशीभूत नहीं होता। मनुष्य कितना ही अज्ञात क्यों न हो, वह मर्मको समझनेवाला अवश्य होता है। ऐसी दशामें वक्ताको यह जानकर अपने भाषणमें असावधानी न करनी चाहिये कि मैं मूर्खोंके सामने भाषण दे रहा हूं। बल्कि, उसको उत्तम रीति और सावधानीसे व्याख्यान देते हुए उपस्थित समाजको भलीभाँति समझाना और उनके मन पर वक्तव्य विषयकी सत्यताको अङ्कित करना चाहिये।

उत्तम प्रकारसे निकाले गये प्रमाणोंका परिणाम उत्तम होता है। पर यह बात विशेष कर वक्ताकी सुव्यवस्था पर अवलम्बित है। यदि वक्ता व्यवस्थाके साथ इन को योग्य स्थानमें लावे; और एक दूसरे को आपसमें न मिलने दे, तो वे बहुत ही उपयुक्त हो जाते हैं। एतत्संबंधी कुछ नियम नीचे लिखे जाते हैं:—

१—भिन्न भिन्न स्वरूपके जो प्रमाण हों उनको एकत्र करने में गड़बड़ न होने देनी चाहिये। किसी भी विषय को ग्रहण कीजिये, उसमें किसी एक बातको सच्चा सिद्ध करने से बड़ा लाभ होता है। कौन सी बात सच्ची है, कौन सी नीत्यनुसार है और किसको सच्चा ठहराने से लाभ है— इन तीन बातोंमें से किसी एक को ठीक करना

पड़ता है, और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सत्य, कर्तव्य-कर्म और हिताहित— इन तीन विषयोंकी जगतमें सदा कमी-बेशी हुआ करती है। परन्तु, ये तीनों विषय बिलकुल अलग २ होने के कारण, इनके प्रमाण एक दूसरे के साथ कभी लागू नहीं पड़ते। ऐसी दशामें, ऊपर के तीनों विषयों पर एक समान बुद्धिवाद करनेवाले के विचार सुन्दर और स्पष्ट नहीं दिखाई देते। इसलिये, प्रसङ्गानुसार एक ही विषय पर अलग २ बुद्धिवाद करने की आवश्यकता आ पड़ती है।

२—प्रमाणोंमें दृढ़ता लाने के लिये जो अनेक प्रकार के नियम हैं उनमें एक साधारण नियम यह भी है कि क्रमशः बढ़ाकर पीछे उसका उद्दीपन करना चाहिये। विषय चाहे जैसा कठिनाईका हो और वक्ता उसे पूर्णतया सिद्ध न कर सके, तोभी प्रमाणोंकी इस पद्धतिका सहर्ष अवलंबन करना चाहिये। पहले तो बिलकुल निर्बल कारणोंको बताने का आरंभ करना, और फिर कुछ सबल कारणोंको बतानेका प्रयास करना चाहिये। इस प्रकार जबतक श्रोताओंके मन पर पूरा प्रभाव न पड़े, तबतक इसी रीतिसे एकके बाद एक सबल कारण देते जाना चाहिये। सब प्रमाण एकदम देकर अपना भांडार शीघ्र ही खाली करदेना ठीक नहीं, बल्कि इस रीतिको योग्य स्थान पर काममें लाना चाहिये। यदि ऐसा अवसर आपड़े कि पहिले निर्बल प्रमाणोंकी आवश्यकता न समझी जाकर सबल प्रमाण ही देने पड़ें, तो वैसा ही करना ठीक होगा; क्योंकि, इससे ख़ास मतलब श्रोताओंके मनको आकर्षित करना है। आरंभमें श्रोताओंका मन आकर्षित हो जाय, तो पीछे चाहे जैसे प्रमाण उनके सामने रक्खे जायँ,

वे कभी नहीं उकताते।

३—जितने कारण प्रबल और समाधानजनक हों उन सबको पहले स्पष्टताके साथ बतानेसे अच्छा फल दिखता है। इस रीतिसे प्रत्येक कारण स्वतंत्रतापूर्वक रक्खे जाँय, तो इससे उपलेस भी उत्तम किया जा सकता है। और, यदि यही कारण रुकावटवाले तथा संशयात्मक हों, तो एक के बाद दूसरे को जल्दीसे कह डालना चाहिये। क्वींटीलियन का मत है कि यदि मूल कारण निर्बल हो, तोभी वह दूसरोंके आश्रयसे बलवान् हो जाता है।

४—प्रमाणके साथ बुद्धिवाद करना हो, तो उसे लम्बा नहीं करना चाहिए, अर्थात् अधिक २ प्रमाण देकर नहीं बढ़ाना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे स्वपक्षको यथोचित बल नहीं मिलता, प्रत्युत श्रोताओंके मनमें संशय उत्पन्न हो जाता है। थोड़ेसे योग्य प्रमाण देनेसे अपना पक्ष जितना सत्य मालूम होता है उतना निरर्थक प्रमाण देनेसे नहीं होता, बल्कि इससे वक्ताकी स्मरण-शक्ति पर व्यर्थ बोझ पड़ता है। इसलिये कारणोंको बहुत न बढ़ा कर उदाहरणके साथ उत्तम रीतिसे समझाना चाहिये। वक्ता यदि एक ही रीति पर डटा रहे, तो कभी २ उसे निराशा उत्पन्न हो जाती, और अन्तमें वह अधीर हो जाता है; इसलिये बुद्धिवाद करते समय इसका खूब ध्यान रखना चाहिये। कभी २ वेही प्रमाण पुनः २ कहे जाँय, तो चल सकते हैं; पर प्रत्येक समयमें ऐसा नहीं होता। हाँ, यदि नये ढङ्गसे वे कहे जाँयगे, तो वे श्रोताओंको रुचिकर होते हैं, और वक्ताको भी आनन्द मिलता है।

विरुद्ध पक्षकी ओरसे जो बातें और प्रमाण कहे गये हों उनके प्रतिकूल अर्थ वाली बातें कभी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वक्ताका दुरभिप्राय तुरन्त ही प्रकट हो जाता है, और एक बार प्रकट हो जानेसे श्रोताओंका विश्वास उस परसे जाता रहता है। साथ ही, श्रोताओं को भासने लगता है कि यह वक्ता जो कुछ कह रहा है वह असत्य है, और विपक्षवालों की बातें प्रमाणयुक्त हैं। अतएव, वक्ता को इससे बचना चाहिये।

(६) हृदयद्रावक भाग।

अन्य भागोंकी अपेक्षा यह भाग अधिक महत्त्व का है, इसलिये प्रत्येक व्याख्यानमें यह भाग अवश्य होना चाहिये। कई लोग यह शंका करते हैं कि श्रोताओंकी मनोवृत्तियों को लक्ष्य कर व्याख्यान क्यों देना चाहिये? इसके समाधानमें केवल इतना ही कहना है कि यह शंका निर्मूल है, और विचारशील पुरुष इसको कोई शंका नहीं समझते। यदि श्रोताओं की मनोवृत्तियों को उद्देश कर न बोला जाय, तो वक्ताके भाषणका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिये कोई भी विषय हो, उसमें श्रोताओंको विश्वास करानेके लिये उनकी बुद्धिके अनुसार बोलना पड़ता है; और विशेष कर सत्य या न्याय-अन्याय के विचारों में अपनी विचारशक्तिका उपयोग करना पड़ता है। हाँ, यदि केवल श्रोताओंका मन खींचनेका ही हेतु हो, तो उस समय बुद्धिवाद नहीं करना चाहिये। ऐसे समय तो विस्मय और आश्चर्यजनक विषय जिनसे उनकी मनोवृत्तियाँ वक्ताकी ओर आकर्षित हों कहने चाहिये; क्योंकि मनुष्यमें

चंचलता उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति ही प्रधान है। अतएव जिस प्रकारके भाव प्रदर्शित करने हों वैसे ही उद्गार निकालकर तद्भावजनक मनोवृत्तिको चंचल करना चाहिये जिससे श्रोताओंको वशीभूत करनेमें कुछ भी परिश्रम न करना पड़े।

कोई २ भाषण तो मूलसे ही रसीले होते हैं। ऐसे भाषणोंमें फिर चाहे जो कहा जाय वह मनोरंजक ही मालूम होगा। व्याख्यानको मनोरंजक बनाना वक्ताका कर्त्तव्य है। इस सम्बन्धमें इन ७ नियमों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये:—

१—सबसे पहले तो यह देखना चाहिये कि ग्रहण किया हुआ विषय मनोरंजक बनने योग्य है या नहीं, और उसमें किस २ स्थान पर मनोरंजक भाग रखनेसे श्रोताओं को वह रुचिकर होगा। जब विचारशक्तिसे यह मालूम हो जाय, तभी उस विषयमें मनोरंजकता लानी चाहिये; क्योंकि साधारण तौर पर प्रत्येक विषयमें मनोरंजकता लाना ठीक नहीं।

२-मनोरंजक भाग को व्याख्यानके अन्य भागोंसे अलग ही रखना चाहिये। जब व्याख्यानमें मनोरंजकता लानी हो, तो पहले श्रोताओंको इसकी सूचना न देनी चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे उनकी मनोवृत्ति उत्तेजित न होकर ज्योंकी त्यों बनी रहती है, और वक्ताका सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। श्रोताओंकी मनोवृत्ति उद्दीपित करनेकी संधि मिलते ही, इन मनोरंजक भागोंको तुरन्त उपस्थित करदेना चाहिये। ऐसे अवसर पर विलंब करना ठीक नहीं।

यदि कल्पना-चित्र तुरन्त ही उनके सामने रख दिये जायँगे, तो उनका चित्त व्याख्यानमें तल्लीन हो जावेगा; और उनकी मनोवृत्तियोंको दूसरी ओर जाने का मौक़ा न मिलेगा।

३—यदि श्रोताओंसे यह कह दिया जाय कि मैं अभी आपको मोहित किये देता हूं, तो जबतक वे मोहित न हो जायँ, तबतक खूब ही प्रयास करना और अन्तमें उनको मोहित ही करके छोड़ना चाहिये। श्रोताओंके मनमें दया उत्पन्न करना, उनकी मनोवृत्तिके अनुसार कहना, उनको नये विषयमें बड़ी ही आसानीके साथ मिलाना और उनमें प्रेम जोड़ने वाली बातें कहना— ये श्रोताओंको मोहित करने के उपाय हैं। वक्ता यदि अपने ही ढर्रेपर चलता रहे, तो इसका परिणाम अच्छा नहीं होता; इसलिये समयानुसार रीतिका अवलम्बन करके व्याख्यानमें समयानुसार ही मनोरञ्जक भाग लाना चाहिये।

४—जो कुछ उदाहरण दिये जायँ वे कथित स्वरूपके अनुसार हैं या नहीं— पहले यह बात देखनी चाहिये; और यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वे श्रोताओंकी स्थिति ध्यानमें रखने में कितने लागू पड़ते हैं। एक बार कोई बात कहने से दूसरे के मनमें जो विकार उत्पन्न हों उनके अनुसार ही वक्तामें उनम विकार उत्पन्न होने चाहिये; और फिर बड़ी लगनके साथ वक्ताको बोलना चाहिये। वक्ताकी मनोवृत्ति जाग्रत हुए बिना, श्रोताओंकी मनोवृत्ति जाग्रत नहीं होती। स्वभिगत-धर्ममें ऐसा एक विलक्षण संयम है कि एक की वृत्ति जाग्रत होने पर दूसरे की वृत्ति उत्तेजित करने में अतिशय परिश्रम नहीं करना पड़ता। प्रतिपाद

विषय जब वक्ताकी समझमें भलीभाँति आ जाता, और उसपर उसका पूरा अधिकार हो जाता है, तो उस समय वह जो शब्द मुँहसे निकालता है उनसे तथा उसके अङ्ग-विक्षेप से उसका सारा भाषण चित्ताकर्षक मालूम होता है; और ऐसा भासता है मानो वक्ता अत्यंत आनन्द और उमङ्ग में तल्लीन है। ऐसे भाषणोंसे श्रोताओं पर अकथनीय प्रभाव पड़ता है। साथ ही, इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि वक्ताके मनमें जो भाव उत्पन्न हों उनको अतिशयोक्तिके साथ नहीं कहना चाहिये; क्योंकि अपनी सच्ची भावनाओं को समझाना तो पहले ही कठिन काम है, फिर अतिशयोक्ति के झगड़ेमें पड़ने से और भी कठिन विषय हो जावेगा। व्होलटियर नामक फ्रेंच ग्रन्थकारने लिखा है कि वक्ताको श्रेष्ठ समाजके सामने कभी अश्रु पात नहीं करना चाहिये; और जिससे अश्रु पात हो, हिचकी आवे, या मुखसे अस्पष्ट शब्दोच्चार निकले ऐसा अन्तःकरण कभी न होने देना चाहिये। अश्रु पात करने की अपेक्षा मुखसे ऐसे वचन निकालना चाहिये जिससे श्रोताओं का अन्तःकरण द्रवित होजाय और वक्ता अधीर न होने पावे। वर्जीलियनकी रीति थी कि जब वह किसी मनुष्यकी स्थिति श्रोताओंको सुनाता, और उनमें दया उत्पन्न करना चाहता, तो पहले उस दुखद स्थिति का प्रभाव अपने ऊपर डालता, और फिर स्वयं अन्तःकरण से ऐसी सरल और रोचक भाषा में उसे श्रोताओं के सन्मुख रखता कि उसे सुनकर सब श्रोताओं का अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता था। अस्तु, वक्ताकी वाणीमें मोहकता अवश्य होनी चाहिये।

५—श्रोताओंके मनमें जैसा भाव उत्पन्न करना हो उसीके अनुसार शब्दों की योजना करनी चाहिये। जो वक्ता अपनी सबल मनोवृत्तिके वशमें होता है उसका भाषण सुनने से श्रोताओं को विश्वास होजाता है; और वे उसको आदर की दृष्टिसे देखते हैं। अपनी उत्तम मनोवृत्तिके वशमें हो जाने पर, फिर वह मनुष्य उसीके गहरे विचारों में डूब रहता है; और इधर-उधर की बातों में उसका ध्यान नहीं जाता। इसका फल यह होता है कि वह अपने विषय को सच्चे अन्तःकरण के साथ मिलाकर कहेगा; और फिर उसका प्रभाव श्रोताओं पर अवश्य पड़ेगा। ऐसे वक्ताओंका भाषण जितना उत्तम, रसमय और मनोहर होता है उतना किसीका नहीं होता। यदि ऐसा न करके अपनी भाषण-पद्धति से ही व्याख्यान को शोभित करने का प्रयत्न किया जाय, तो उत्पन्न हुआ आवेश और अन्तःकरण का भाव दोनों चले जाते हैं, जिससे व्याख्यान शिथिल हो जाता और श्रोताओं को ऐसा भासता है मानों वक्ता बनावटी बातें कह रहा है। लोगों की कल्पनाएँ उत्तेजित करने या उनके अन्तःकरण को प्रसन्न कर लेने में बड़ा अन्तर है। ये दोनों एक समयके काम नहीं हैं। क्योंकि कल्पना उत्तेजित करना शान्ति का काम है; इसके बिना वह उत्तेजित हो नहीं सकती और अन्तःकरण प्रसन्न करना उसी समयका काम है। इसमें स्थिरता रखने से तुरन्त कार्य करने की अवस्था कम हो जाती है; और मूल उद्देश नष्ट हो जाता है, जिससे फिर इसको सम्हालना कठिन होजाता है। इसलिये इस विषय में

सावधान रहकर वक्ता को ऐसा भाषण देना चाहिये कि जो श्रोताओं को स्वाभाविक और सच्चा मालूम हो, और और जिससे सबको आनंद मिले।

६—व्याख्यान के समय इस मनोरंजक भागसे सम्बन्ध न रखनेवाले और और विचार नहीं आना चाहिये। उत्पन्न हुए मनोविकारों की गति को रोकनेवाले जो अनेक कारण उत्पन्न होजाते हैं उनकी ओर ध्यान न जाने देने के लिये खूब सावधानी रखनी चाहिये। अलंकारों से भूषित, दिखाऊ और सुन्दर भाषण-पद्धति से मन, असली विषय की ओर से पराङ् मुख हो जाता है, और सहजही द्रवित नहीं होता; इसलिये अपने भाषणों में इसे कभी नहीं लाना चाहिये।

७—मनोरंजक भाषण बहुत बड़ा नहीं होना चाहिये; क्योंकि ऐसा होने से वह श्रोताओं को रुचिकर नहीं होता और झुँझलाहट आजाती है। संतप्त हुई मनोवृत्ति की भावना क्षणभंगुर होती है, वह बहुत समय तक मनमें नहीं टिक सकती; इससे शब्द एकदम भड़भड़ाहट के साथ न निकलकर जहाँ रुकना पड़े वहाँ रुके-इसका भी खूब ध्यान रखना चाहिये। ऐसे समय मनकी स्थिति आवेशयुक्त होने से जो शब्द सपाटे के साथ निकलते हैं उस रीति को छोड़कर शान्ति और धीरज से काम लिया जाय, तो परिणाम उत्तम होता है। परन्तु आवेश या अपना स्वर एकदम शान्त नहीं कर देना चाहिये, बल्कि धीरे २ कमी करके उसमें पूर्ववत् भावना स्थिर रखनी चाहिये। विचारने की मुख्य बात तो यह है कि श्रोताओं को जो शब्द रुचिकर हों उनकी

ओर वक्ता को विशेष लक्ष रखना चाहिये । जो वक्ता आवेश में आकर इसका ध्यान नहीं रखता, और श्रोताओं की मनोवृत्ति उत्तेजित करने के लिये चढ़ाके से बोलता जाता है उसका हेतु कभी सफल नहीं होता ।

(७) उपसंहार ।

किसी सभ्य गृहस्थसे भेंटकर लौटते समय "अब आज्ञा दीजिये," "नहीं, ज़रा और बैठिये" आदि जो शब्द कहे जाते हैं उनमें जो खूबी और कुशलता है वही व्याख्यान के इस उपसंहार-भागमें लानी चाहिये। व्याख्यान-प्रवाह आरंभमें जैसा चलता हो उसीके अनुसार उसकी समाप्ति होनी चाहिये—यह एक नियम है। कभी २ व्याख्यान का मनोरंजक भाग उपसंहार में आजाय और व्याख्यान-विषय विषादग्रस्त हो, तो उस मनोरंजक भाग का सार निकालकर बहुतही सावधानीसे श्रोताओंके सामने रखना चाहिये, जिससे उनके अन्तःकरण पर विषय स्पष्ट दीखने लगे। विषय-समाप्ति का नियम ऐसा है कि जिसपर अपना उद्देश विशेष हो और जो अपने विषय को प्रबल करने का कारण हो उसीका अन्त में निरूपण करना चाहिये। इसका खूब ध्यान रखना और व्याख्यान का सूत्र न टूटने देना चाहिये । पहले जैसा निरूपण किया गया हो, उसी प्रकार उपसंहार भी होना चाहिये । यदि यह सिद्धान्त धर्मपुस्तकों के आधार पर निकाला गया हो और उससे कोई निरालाही स्वतंत्र विषय निकला हो, तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होता, प्रत्युत श्रोताओंका मन व्याख्यान के विषय से हट जाता है । जिस प्रकार शरीर

पर रक्त-विकार की गाँठें हो जाने से वह कुरूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार उपसंहार के बीचमें एक दूसराही विषय निकलने से, पूर्व निरूपण का रंग बदलजाता, और विषय कुरूप भासने लगता है।

व्याख्यान की समाप्ति कहाँ करनी और अपने मूल विषय को कहाँ रखना—इस बातका भी ज्ञान वक्ता को अवश्य होना चाहिये। यदि इसका विचार न रक्खा जाय, और धीरे २ निराशाजनक शब्दों में व्याख्यान समाप्त किया जाय, तो श्रोताओं को कुँझलाहट आजाती है। इसलिये ऐसी आवेशयुक्त वाणीसे व्याख्यान समाप्त करना चाहिये कि जिससे श्रोतागण प्रसन्नता के साथ अपने घर जावें और उनके मनमें व्याख्यान का विषय झूलता रहे।

(८) व्याख्यान का मूल हेतु ।

व्याख्यान की संकलना करके व्याख्यान देते समय वक्ता को अपने मूल उद्देशका स्मरण रखना चाहिए। अपना मूल उद्देश दर्शाने से ही श्रोताओं का मन आकर्षित होता है। इसलिये व्याख्यान देते समय श्रोताओं को ऐसा विश्वास दिला देना चाहिये कि मैं जो कुछ बोल रहा हूं वह सच्चा है; और इसीके अनुसार मेरे आचरण हैं। श्रोताओं को ऐसा विश्वास होजाने पर उस वक्ता का मान-सन्मान होता और उसकी कीर्ति बढ़ती है।

(८) व्याख्यान देने की विविध रीतियाँ।

व्याख्यान देने की जो चार रीतियाँ प्रचलित हैं वे नीचे लिखी जाती हैं:—

(१) लिख पढ़कर सुनाना।

(२) पहले व्याख्यान लिखकर कंठस्थ कर लेना, और फिर उसे कह सुनाना।

(३) विषय का साधारण चित्र पहले मनमें लाकर फिर समय पर जो विचार उत्पन्न हों उन्हें प्रकट करना।

(४) जो भाग विशेष महत्व के हों उन्हें पहले ही से तैयार करके कंठस्थ करलेना और शेष भागों को, व्याख्यान देते समय, कहते जाना।

(१) लिख पढ़कर सुनाना।

यह रीति सबसे सरल है। उपदेश देने और शास्त्रों के विवरण सुनाने में यह बहुत उपयोगी है। लिखित विषय पढ़ना आवश्यकतानुसार शीघ्र और धीमे स्वर से उत्तम होता है। व्याख्यान काग़ज़ के कई टुकड़ों में लिखकर नहीं लाना चाहिये; क्योंकि वे टुकड़े बारम्बार उलटने से बोलने में विघ्न पड़ता, एवं श्रोता उकताने

लगते हैं। इसके सिवाय जो जो शब्द महत्त्व के हों उनके नीचे रेखा खींचकर लाना चाहिये जिससे पढ़ते समय कठिनाई न पड़े, और किस शब्द पर ज़ोर देना वा किसपर न देना—यह बात उस समय समझ में आजाय; क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय और पढ़ते समय ही सम्हाल कर बोलने का विचार किया जाय, तो समय पर भूल होजाने की संभावना रहती है।

परन्तु वक्ता की सब अवस्थाओं के लिये यह रीति अच्छी नहीं है। धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान तो सब समय में लिखकर पढ़े जा सक्ते हैं; पर अन्य व्याख्यानों को सदा लिखकर पढ़ना अच्छा नहीं माना जाता, और न लोग इसको पसंद ही करते हैं। वास्तव में यह रीति वक्तृत्व-कला के अभ्यास के आरंभ में अच्छी है। कोई भी मनुष्य जब व्याख्यान देना सीखे, तब पहले व्याख्यान को काग़ज़ पर लिखकर सुनाया करे। इसके बाद, जब उसको सभा में बोलने का अभ्यास और साहस हो जाय, तब इस रीति को त्याग दे। क्योंकि ऐसा न किया जाय, तो उसकी वक्तृत्व-शक्ति नहीं बढ़ने पाती है। हाँ, विषय का पहिले ही से मनन करके उसकी मुख्य २ बातें नोट कर लेना तो अच्छा है और ऐसा बड़े २ वक्ता भी करते हैं; पर अभ्यास हो जाने के बाद व्याख्यान को लिखकर सुनाना लोगों की दृष्टि में अच्छा नहीं जँचता। लेख पढ़कर सुनानेवाले व्यक्ति भविष्यत् में उत्तम वक्ता नहीं होते। ऐसे वक्ताओं के मनपर न्यायशास्त्र का संस्कार नहीं पड़ता; और इसीसे उनका विचारक्षेत्र विशाल नहीं

विषयका खूब मनन करके उसकी कुछ बातें नोट करना और कुछ बातोंको कंठस्थ कर लेना अच्छा है । इस ढंग से वक्ता, समयपर जैसे शब्द सूझें, उनमें अपने विचार प्रकट कर सकता है ।

(३) अचिन्तितपूर्व व्याख्यान देना ।

विषयका चित्र मनमें लाकर तत्काल जैसे शब्द सूझें उनमें अपने विचार प्रकट करनेको "अचिंतितपूर्व व्याख्यान" देना कहते हैं। व्याख्यान देनेकी यह रीति सबसे श्रेष्ठ मानी गई है, और इससे श्रोताओंपर पूरा प्रभाव पड़ सकता है। किसी २ प्रसंगपर वक्ताको विषय तैयार करनेके लिये अन्य पद्धतिका अवलंबन करना पड़ता है; पर किसी समय तात्कालिक प्रसंगपर व्याख्यान देनेका अवसर आजाये, तो उसे वैसा बोलनाभी आना चाहिये। व्हेटले साहब अपने ग्रन्थमें लिखते हैं— जब इस रीतिसे वक्ता अपने विचार प्रकट करता है, तो श्रोताओंको ऐसा मालूम होने लगता है मानों ये विचार वक्ताके अन्तःकरणसे अभी निकले हैं और इनमें किसीभी ग्रन्थकी सहायता नहीं ली गई है। ऐसा समझकर उनका मन द्रवित होता, और भाषणमें अधिकाधिक लगता जाता है। जैसे तूँबीकी सहायताके बिना तैरनेवाले मनुष्य को देखकर दर्शकोंको आश्चर्य होता है, उसी प्रकार किसी विषयपर तत्काल बोलनेवाले वक्ताको देखकर श्रोताओं को आश्चर्य होता है। इस रीतिसे एक लाभ यहभी होता है कि व्याख्यानमें स्वतंत्रता मिल जानेके कारण व्याख्यान प्रभावशाली हो जाता है।

(४) मसलेके भागोंको पहलेसे ही कंठस्थ कर लेना ।

इस रीतिमें दूसरी और तीसरी रीतियोंके सब लक्षण सम्मिलित हैं । इसके संबंधमें केवल इतनाही ध्यान रखना चाहिये कि कंठस्थ करके बोलने और समयानुसार तत्काल बोलनेमें श्रोताओंको अन्तर न दिखना चाहिये, अर्थात्, कौन भाग कंठस्थ किया हुआ है और कौन तत्काल बोला जा रहा है—यह बात श्रोताओंको मालूम न होने देना चाहिये ।

व्याख्यान पढ़कर सुनानेकी अपेक्षा तत्काल बोलने की विशेष उपयोगिताका कारण सहजही में समझा जा सकता है । जैसे एक दलकी सेनाको अपने प्रतिपक्षी पर विजय करके प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार समाजके सामने अपने वाग्बाण छोड़कर और उसका हृदय द्रवित करके वक्ताको बड़ा आनन्द मिलता है । ऐसे समय श्रोताओंके मनमें यदि खलबली पड़गई हो, तौभी उनमें कर्तव्य-बुद्धि जाग्रत हो जाती है । व्याख्यानका प्रतिबिंब डालनेके लिये साधारण मंडलीका बड़ा समूह हो, तो कोई हानि नहीं; पर उनमें दो भाग नहीं होने चाहिये । इसी प्रकार प्रतिपाद्य विषयकी ओर किसीका लक्ष न हो, तो कोई बात नहीं; पर व्याख्यान प्रशस्त अन्तःकरणसे समझा जानेवाला होना चाहिये जिससे सारे लोग संतुष्ट होजाँय और बुद्धिवादसे सारे समाजमें हास्य उत्पन्न हो जावे ।

योग्य विचार तत्काल प्रभावशाली शब्दोंमें व्यक्त किये जायँ, तो वह रचना उत्तम प्रकारकी वक्तृत्वशाली

देखना काम नहीं पर अपना। इन दोनों बातोंमें अभ्यासकी बड़ी भारी आवश्यकता है।"

(४) श्रोता।

पहले वक्ताको यह देखना चाहिये कि मैं जिस समाजके सामने भाषण देनेको खड़ा हुआ हूं वह किस प्रकारकी है। यदि वह विस्तृत-जन-समूहके सामने खड़ा हो, तो उसे उसको योग्य मान देना चाहिये, और ऐसा कभी न सोचना चाहिये कि समाजकी शुभ सम्मति निरर्थक होती है। एक प्रसिद्ध वक्ताका कहना है कि "समाज एक बालकके समान है।" दूसरे वक्ताका मत है कि "समाज भेड़ोंके समुदायके समान है। वक्ता इनको हाँककर रास्तेपर लाते हैं।" इन दोनों मतोंमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य है। अतः यदि वक्ता श्रोताओंको तुच्छ समझकर अपना प्रभाव डालना चाहे, तो वह कभी सफल-मनोरथ नहीं हो सकता। इसलिये वक्ता जो कुछ कहना हो उसे अत्यन्त सौम्यता और सभ्यतापूर्वक रोचक शब्दोंमें कहना चाहिये जिसे सुनकर समाजका प्रत्येक व्यक्ति तन्मय होजाय।

इमर्सन का कथन है— "श्रोतृ-समाज बजानेका एक बाजा है। इसे बजानेके लिये वक्तामें चतुराई और अभ्यास होना चाहिये। श्रोताओंका समाज निरा जन-समूहही नहीं होता, वरन पारस्परिक प्रेम होनेसे सार्वजनिक संस्थाका रूप धारण करनेके लिये विद्युज्जनक यंत्र है। जैसे विद्युज्जनक यंत्रमें से बिजली प्रत्येक घटमें प्रवेश करती है, वैसेही समाज-रूपी बाजा प्रत्येक व्यक्ति और वक्ताके बीच प्रेम उत्पन्न करता है। किस प्रसंगपर

मनुष्योंकी क्रोधाग्नि भड़केगी यह पहलेसे जाने बिना वक्ता श्रोताओंपर प्रभाव नहीं डाल सकता; और अन्तमें उसे चुप होकर बैठ जाना पड़ता है। कई समय समाजकी मंडली ऐसे स्वभावकी होती है कि प्रोत्साहन मिले बिना उससे कोई काम नहीं हो सकता। मनोवृत्तिका उसपर इतना प्राबल्य जमा होता है, कि बुद्धिमान् लोगोंके अनुकूल प्रमाणभी उसके सामने अरण्यरोदनसे मालूम होते हैं। ऐसी दशामें यह स्पष्ट है कि उनकी मनोवृत्तियोंको उद्देशकर बोले बिना उनपर अपना प्रभाव नहीं जम सकता।

"वक्ताके प्रति श्रोताओंके मनमें प्रतिकूल मत उत्पन्न हो और वे उसका व्याख्यान सुननेको उत्सुक न जान पड़ें तो वक्ताको चुपचाप बैठजानाही श्रेयस्कर है; क्योंकि समाजके प्रतिकूल होजाने पर वक्ताकी कुछभी नहीं चलती। हाँ, यदि वक्ता चतुर हो तो सहजही में उनके मतको बदल सकता है। क्योंकि समाजमें प्रतिकूल मत स्थायी नहीं होता; और फिर वक्ताको भी इससे विचलित नहीं होना चाहिये। समाजमें यदि बहुत गड़बड़ हो, तो थोड़ी देर चुप रहकर दस पाँच सभ्य जनोंसे शान्ति स्थापित करनेके लिये कहना चाहिये; और फिर धैर्यके साथ व्याख्यान शुरू करना चाहिये। पार्लमेन्ट और म्यूनिसिपैलिटीके नये मेम्बर चुनते समय प्रायः ऐसा झगड़ा हो जाया करताहै। उस समय यही युक्ति काममें लाई जाती है। कई बार ऐसाभी देखा गया है कि वक्ताका प्रारंभिक व्याख्यान सुनकर श्रोता एकदम क्रुद्ध हो गये,

और वक्तापर पत्थर फेंकने तकको तैयार होगये; परंतु जहाँ वक्ताने अपना पहला ढंग बदलकर शान्त-वृत्ति और रसीलेपनसे व्याख्यान देना शुरू किया कि श्रोता लज्जित होगये, और ऐसे मुग्ध हुए कि उनके हाथके पत्थर आपसे आप गिर पड़े, और सब हर्षसे तालियाँ पीटने लगे। मतलब यह है कि कलह-प्रिय और क्रोधी मनुष्यका मानसिक एवं शारीरिक बल और बुद्धि जाती रहती है, और एकको प्रतिकूल देखकर दूसरे लोगभी प्रतिकूल हो जाते हैं; पर वक्ताको अपनी सुबुद्धिपर अटल रहना चाहिये। यदि वहभी क्रोधीके साथ क्रोधी बन जाय, तो परिणाम अच्छा नहीं होता। इसलिये, ऐसे अवसरपर वक्ताको शान्ति धारण करनी चाहिये।

(६) वक्तापर श्रोताओंका प्रभाव।

समाजको देखकर वक्ताके मनमें घबराहट उत्पन्न न हो—इसके लिये ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि जिन लोगोंको वक्ता सामने देखे उन्हें मनुष्य नहीं, बल्कि पाषाण-मूर्तियाँ समझे। प्रसिद्ध वक्ता लूथर ने एक जगह लिखा है—"पहले पहल व्याख्यान देनेवाला मनुष्य उपस्थित मंडलीको देखकर घबरा जाता है; पर मैं तो जब व्याख्यान देनेको खड़ा होता हूं, तो सामने बैठे मनुष्योंको पत्थर-मूर्तियाँ समझता हूं।" परन्तु यह बात केवल घबराहट दूर करनेके लियेही समझनी चाहिये। यदि यथार्थमें ऐसा समझ लिया जाय, तो श्रोताओंमें गड़बड़ मच जाती है; और क्षण भरके लिये उन सबकी मनोवृत्तियाँ एकसी होकर वे वक्तासे अधिक योग्यताके दरजेपर पहुँच

जाते हैं। फिर वक्ता अपनेको वामन-मूर्त्ति समझे बिना नहीं रह सकता। अतः ऐसा न होनेके लिये वक्ताको पूरा ध्यान रखना चाहिये।

यदि पहलेपहल बड़े समाजके सामने बोलनेमें संकोच या घबराहट मालूम हो, तो छोटी छोटी सभाओं में व्याख्यान देना चाहिये; पर सदा ऐसीही सभाओं में व्याख्यान देते रहनेसे वक्ताकी योग्यता नहीं बढ़ती और न उसका संकोच दूर होता है। कभी कभी ऐसाभी होता है कि जो व्याख्यान छोटी सभाको अच्छा नहीं लगता उसीको सुनकर वृहत् समाज तालियोंकी गड़गड़ाहट मचा देता है। इसका कारण यह है कि बड़ी समाजों में कई प्रकारके मनुष्य होते हैं। एककी देखादेखी दूसरा करता है। एकके मनपर उत्तम असर होता देख दूसरेके मनपर भी असर पड़ता है, और इस प्रकार श्रोता और वक्ताके बीच प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। इससे वक्ताको अपना व्याख्यान देनेमें बड़ा उत्साह मिलता और वह श्रोताओंके मनको तुरन्त पहचानकर उनकी रुचिके अनुसार बोलने लगता है। उसको विश्वास होजाता है कि मेरे भाषणका प्रभाव श्रोताओं पर पड़ रहा है। ऐसे विश्वास से उसके हृदयमें [illegible] होने लगते हैं।

(९) व्याख्यान देनेकी शैली ।

विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।
महानप्यनुलोमार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥

(शिशुपालवधस्य)

व्याख्यान देनेकी शैली बहुत महत्त्वकी बात है । वक्तामें इसका होना अत्यावश्यक है । यदि यह उसमें न हो, तो उसकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और बोलनेकी शक्ति ठीक ठीक काम नहीं देती । इस गुणको सम्पादन करनेके लिये जितना परिश्रम उठाना पड़ता है उतना और गुणोंके अभ्यासमें नहीं उठाना पड़ता । क्वीं-टिलियनका मत है— "विषय चाहे जैसा हो; पर यदि वक्ता को व्याख्यान देनेकी शैली मालूम हो, तो श्रोताओंपर उस का अच्छा प्रभाव पड़ता है"। इसी प्रकार डिमास्थनीज़ ने एक बार एक मनुष्यके प्रश्नके उत्तरमें कहा था कि "वक्तृत्वमें मुख्य भाग व्याख्यान देनेकी शैली है ।" प्रसिद्ध वक्ता वर्क का भी यही मत था । ये दोनों वक्ता व्याख्यान-शैलीको बड़े ही महत्त्वका भाग समझते थे । लार्ड चेस्टरफील्ड ने अपने पुत्रको लिखा था— "प्यारे पुत्र, यदि तू अपना अभ्युदय करना चाहे, तो पहले तुझे उत्तम वक्ता बनना चाहिये; और इस काममें "उत्तम व्याख्यान-शैली" जितना तुझे उन्नतिके शिखरपर पहुँचायेगी उतना विषयका प्रति-

पादन काम नहीं देगा।" पीटमर आदि वक्ता इसी शैली से यशपर प्रसिद्ध हुए थे, और इसीसे उन्हें हाउस-आव्-कामन्स जैसी बड़ी २ सभाओंमें बड़ा सन्मान मिला था।

यह शैली वक्ताओं ही को साध्य होती है—यह बात नहीं है। इसे अन्य मनुष्यभी परिश्रम करके प्राप्त कर सकते हैं, और उत्तम गुण वाले वक्ताको तो नियमानुसार चलने सेही यह शैली अनायास प्राप्त हो जाती है। आस्टीन नामके एक ग्रन्थकार का कहना है कि इस शैलीको सुशिक्षित और साधारण श्रेणीके सभी लोग प्राप्त कर सकते हैं। यह ईश्वर-दत्त शक्ति नहीं कही जाती, अन्य बड़े २ गुणोंकी तरह यह भी संपादनीय है। परिश्रमसे कठिन कामभी सहज हो जाते हैं। ग्रेक्स, सिसरो, डिमास्थेनीज़, सोक्रेटीस आदि वक्ताओं ने इस गुणको प्राप्त करनेके लिये बड़ा परिश्रम किया था— निरे नैसर्गिक गुणोंसे ही उनको कीर्त्ति नहीं मिली थी।

(१) वक्ताकी आवाज।

लिये नियमोंका पालन करना आवश्यक है—

१—आवाज़को सुधारने की कसरतका समय सवेरे १० से १२ बजे तक, और शामको ५ से ८ बजे तकका है। एक साहब लिखते हैं—"प्रातःकाल यह कसरत करना अच्छा नहीं; क्योंकि उस समय श्लेष्म अधिक होनेसे श्वास-प्रणालियाँ स्वच्छ नहीं होतीं और वे आवाजको रोकती हैं। इसी प्रकार भूखे पेट या भोजन करनेसे ठीक बादही बहुत देर तक भाषण देनाभी अच्छा नहीं है।"

२—लगातार बहुत देर तक बोलनेकी टेव नहीं रखना चाहिये। छोटे लड़कोंको आधा घरटा और बड़ों को सवा घरटा बोलना ठीक है।

३—सीधे खड़े रहकर बोलनेकी आदत उत्तम है; पर ऐसा नहीं मालूम होने देना चाहिये कि वक्ता छाती निकालकर खड़ा है। कंधोंको पीछे हटाकर, उत्तम सुख-चर्यासे, स्पष्ट उच्चारणके साथ बोलनेका अभ्यास रखना चाहिये।

४—कण्ठ-स्वरकी शक्ति बढ़ानेके लिये खुली हवामें और स्वच्छ भूमिपर, जिस ओरसे हवा आती हो उस ओर चलते २, कुछ बोलते रहना चाहिये। पहले लिखा जा चुका है कि डिमास्थेनीज़ ने समुद्रके किनारे, प्रचण्ड लहरोंको लक्ष कर, अपनी आवाज़ सुधारी थी और मुँहमें कंकड़ डाल, पहाड़पर चढ़ते समय बोल बोलकर, हकलाहट दूर की थी।

५—ठण्डके दिनोंमें शरीर पर गरम कपड़े पहिनना, गलेपर गुलूबन्द बाँधना और गरम जलसे स्नान करना

चाहिये, जिससे आवाज़ बैठने न पावे।

६— खट्टे, और स्निग्ध पदार्थोंका अतिशय सेवन नहीं करना, दाँत साफ़ रखना, आरोग्यताका पूरा ध्यान रखना, ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना— इन बातोंपर भी लक्ष रखना चाहिये; क्योंकि इन में संयम न रहनेसे आवाज़ शीघ्र बिगड़ जाती है।

७— छाती और गलेपर अतिशय बोझ न पड़ने देना, और आवाज़ सुधारने या फेंफड़ेकी शक्ति बढ़ानेके लिये अच्छी कसरत करनी चाहिये। चाहे जैसे स्वरमें बोलनेका अभ्यास रखना, और फिर उस स्वरको घटा बढ़ाकर थोड़ी देर साँस लेकर फिर बोलना, कोई गद्य-पद्यांश मुख-पाठ करना आवाज़ सुधारनेके अच्छे साधन हैं। आवाज़ सुधारनेकी कसरत करनेसे शरीरका बल बढ़ता है, और दम या श्वासेन्द्रिय रोग नहीं होते। इस विषयमें सर हेनरी हॉलण्डका मत है कि— श्वासेन्द्रियकी कसरत नियमित रूपसे करनेसे, फेफड़े-सम्बन्धी रोग कदापि नहीं होते और शरीरकी आरोग्यता अच्छी रहती है। पाश्चात्य वैद्यक-ग्रन्थोंमें इसके अनेक प्रमाण लिखे हुये हैं। श्वास लेनेकी रीति जुदे २ प्रकारकी है। अपनी शक्तिके अनुसार श्वासोच्छ्वासकी कसरत करनी चाहिये। कमज़ोर छातीवाले मनुष्य को इस कसरत और गानेकी टेव अधिक नहीं रखनी चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार काम करनेसे ही शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं, और इसीसे आवाज़ पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(२) स्वर-भेद।

सङ्गीत-शास्त्रियों ने स्वरके तीन भेद किये हैं; यथा:—

१— खरज, अर्थात् नीचा स्वर।
२— पञ्चम, अर्थात् मध्यम स्वर।
३— षड्ज, अर्थात् ऊँचा स्वर।

इनके अतिरिक्त तीन भेद और हैं— (१) उदात्त, (२) अनुदात्त, और (३) स्वरित। स्वरितके दो भेद हैं—(१) उदात्त स्वरित, और (२) अनुदात्त स्वरित। उपरोक्त स्वरोंमें से वक्ताको पञ्चम स्वर ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि इस सुरसे जैसा भाव दर्शाना हो वैसा हो सकता है, और बहुत दूर बैठेहुए श्रोताभी सहजही में सुन सकते हैं। कोमलता, दया, क्रोध, दुःख आदि भाव-दर्शक सुर अलग होता है; पर अधिकता इसीकी रखना ठीक है। यदि अपनी शक्तिके अनुसार आवाजको प्रत्येक सुरका ज्ञान कराना हो, तो पहले पञ्चम सुर, फिर ऊँचा सुर और अन्तमें नीचे स्वरका उपयोग करना चाहिये। भाषणमें जिस स्थान पर सुर बदलना हो वहाँ विषयका अलग विभाग करना या कुछ अटकाकर बोलना चाहिये। यदि ऐसा न करके चाहे जहाँ सुर बदला जाय, तो बनी बात बिगड़ जाती है। कई वक्ताओंका मत है कि सुरको उतारनेकी अपेक्षा चढ़ाना अधिक सरल है।

सुर और अवधारण दोनोंके लक्षण बिलकुल निराले हैं। सुरको अवधारणसे एक प्रकारकी मदद मिलती है; पर उससे सुर को बदने नहीं देना चाहिये। हाँ, अवधारण बढ़ानेका सुर एक

साधन है; पर तोभी उसकी उदात्त, अनुदात्त पंक्तियाँ ज्यों की त्यों रहनी चाहिये। वक्ता जब व्याख्यान देनेको खड़ा हो, तब उसे स्थल देखकर सुर निकालना चाहिये; क्योंकि किसी स्थलमें साधारण और किसीमें विशेष सुरसे व्याख्यान आरम्भ करना पड़ता है। जिन स्थलोंमें योग्य सुर निकालना कठिन जान पड़ें वहाँ हलके सुरसे ही व्याख्यान आरम्भ करना और फिर धीरे धीरे सुर चढ़ाना चाहिये।

(३) प्रेमोत्पादक स्वर।

स्वर और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेमोत्पादक स्वरका मुख्य उत्पत्ति-स्थान आत्मा है। जिस वक्ताकी आवाज़ स्वाभाविक तथा प्रेम-पूरित होती है, जिसका अन्तःकरण कोमल होता है और जो अपनी मनोवृत्तियोंके अनुसार चलता है वही वक्ता श्रोताओंपर अच्छा प्रभाव डाल सकता है। उसके मनमें सेही उसके स्वरको प्रोत्साहन मिलता है, और उसके व्याख्यानकी प्रतिध्वनि सब श्रोताओंके अन्तःकरणमें भर जाती है। ऐथी थीटनका कहना है कि— मनमें सच्ची लगन उत्पन्न करनेके लिये ऐसी आवाज़ होनी चाहिये कि जिससे श्रोताओंके मनपर उत्तम प्रभाव पड़े। प्रस्तावनाके तौरपर जो दो चार शब्द कहे या लिखे जाँय, वे श्रोताओंके मनको हरनेवाले होने चाहिये। वक्ताकी गम्भीर मुख-मुद्रा देख और आरम्भके दो चार प्रेम-भरे शब्द सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते हैं। वक्ताको जो कुछ कहना हो वह स्पष्ट और मीठे स्वरमें कहना चाहिये, और उस विषयको श्रोताओंके अन्तःकरणमें बिठानेके लिये उत्तम मार्गका अवलम्बन करना चाहिये। उत्तम मार्ग तो यह है,

कि वक्ताके अन्तःकरणमें परोपकार-बुद्धि सदा जाग्रत रहनी चाहिये; क्योंकि परोपकार, सद्बुद्धि, कोमलता और क्षमा-शीलता ऐसे गुण हैं कि इनसे कोईभी मनुष्य दूसरेको अपने वशमें कर सकता है। वक्ता यदि अपने शब्दोंमें कोमलता, उत्साह, आनन्द और रसीलापन लावेगा, तो सहजही में उसे प्रतिष्ठा मिल जावेगी। ये गुण अन्तःकरणकी सहायता सेही मिल सकते हैं; क्योंकि जैसा अन्तःकरण होगा, वैसेही शब्द मुखसे निकलेंगे, और मुखकी मुद्रा वैसीही दिखाई देगी। इसलिये पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनाना चाहिये।

(४) वाग्-यन्त्र।

मनुष्योंकी आवाज़ कहाँसे और कैसे निकलती है इसका वर्णन नीचे दिया जाता है—

दाढ़ीके नीचेका मध्य भाग
|
श्वास-मार्ग
|
फेफड़ा, अर्थात् हृत्-कमलमें कठिन और अनेक-छिद्र-युक्त भाग।

हृत्-कमलमें जो कठिन और अनेक-छिद्र-युक्त भाग है वहीं वाग्-यन्त्रका आदिस्थान है। वहाँसे दाढ़ी के नीचे गले तक सम्बद्ध वायुकी एक नली है। उसको श्वास-मार्ग कहते हैं। इस मार्गके द्वारा हृत्-कमलके छिद्रों वाले भागमें से वायु गलेके बीचतक आती है, और वहाँसे मुख, नाक आदिके पीछेवाले पोले भागमें आ अटकती

है। तभी शब्द किम्वा ध्वनि बाहर निकलती है, और कभी कभी वह कानोंको बहुतही मधुर लगती है। इसका स्पष्ट वर्णन यों है :—

(१) फेफड़ा— यह जितना नीरोगी और सुदृढ़ होगा आवाज़ उतनीही आवेशयुक्त निकलेगी। आवाज़ का न्यूनाधिक होना उपरोक्त पोले भागकी शक्तिपर निर्भर है। यदि आवाज़ बहुत देर तक जारी रखनी हो, तो फेफड़ेकी सहायताकी बड़ी आवश्यकता है; इसलिये उसकी शक्ति बढ़ानेके लिये श्वासोच्छ्वासकी रीतिका नियमित रूपसे पालन करना चाहिये।

(२) दाढ़ीके नीचेका भाग— यह एक हड्डियोंकी पेटी है। इसकी बाजूमें एक प्रकारकी जो गति मिलती है उससे कण्ठकी शिराएँ खिंचती हैं और उसके ऊपर श्वासोच्छ्वासका भार आतेही आवाज़ बाहर निकलती है। इन वाक्-तन्तुओंकी गति सितारके तारोंके समान होती है, और इनके खिंचने या नरम पड़नेसे जुदे जुदे स्वरोंकी आवाज़ निकलती है। यही आवाज़ कसौटी पर कसने और शिक्षासे उपयोगमें लाने योग्य होती है। श्वास-मार्गका वर्णन यहाँ देना निरर्थक मालूम होता है।

इसी प्रकार गला भी सुर उत्पन्न करनेका एक यन्त्र है। इसमें से अनेक प्रकारकी आवाज़ें निकालनेके लिये जुदी २ शक्तिका उपयोग नहीं करना पड़ता। इसमें से सुर निकलकर ऊपरके पोले भागमें जाता हुआ स्वर व्यंजनादिके रूपमें बाहर निकलता है। अन्य प्रकारके बाजोंकी तरह

वाग्-यन्त्रमें भी आवाज़ न्यूनाधिक की जा सकती है; पर यह बात फेफड़ेकी मज़बूतीपर विशेष रूपसे निर्भर है, और इसका विस्तार या कोमलताभी उसीके ऊपर अवलम्बित है। अन्य इन्द्रियोंकी तरह, वाग्-यन्त्रकी शक्ति जितनी बढ़ाई जाय उतनीही बढ़ सकती है।

(५) आवाज़ अटकना और तुतलाना।

व्याख्यानमें अन्य अड़चनोंके अतिरिक्त, यह अड़चन भी बड़ी भारी है। कोई कोई वक्ता व्याख्यान देते समय क्रोध, नींद या टसकसे तुतलाने लग जाते हैं, और कोई कोई जन्मसे ही तोतले होते हैं। जन्मसे तोतले मनुष्योंका इलाज जैसा बचपनमें होता है वैसा बड़े होनेपर नहीं होता; इसलिये तोतले बालकोंके माता-पिताको चाहिये कि वे इसका इलाज बचपनमें ही करें। वक्ताकी आवाज़ का अटकना अच्छा नहीं है। इससे वक्ताकी हँसी होती है। तुतलानेका मुख्य कारण तो यह है कि जब जीभ और स्नायु का समतौल बराबर नहीं होता, गलेके स्नायुमें कुछ बिगाड़ हो जाता है और कण्ठ फूटने लगता है, तब कण्ठनाल बढ़ती २ पूर्ण दशापर पहुँच जाती है और एकाध वर्षमें आवाज़ बिगड़ जाती है। इसके लिये मनुष्यको पहलेसे ही सावधान रहना चाहिये, और यदि यह खोट उसमें आ गई हो, तो उसे तुरन्त निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये।

(६) कण्ठ-ध्वनि-रोध।

कण्ठकी ध्वनि रुँध जानेके दो कारण हैं। एक तो, कई दिनोंके पश्चात् एकदम बोलना, और दूसरे, चाहे जैसे सुरमें बोलना आरम्भ करना। इन दोनों कारणोंसे बचने

और कण्ठ-ध्वनि न रुँधने देनेके लिये श्रोता भले न सुनें, पर वक्ताको निरन्तर व्याख्यान देनेका थोड़ा-बहुत अभ्यास रखना चाहिये, और ऐसे अवसर पर अपनी व्याख्यान-शैली की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

(७) श्वासोच्छ्वास।

इस विषयमें यदि पहलेसे ही ध्यान रक्खा जाय, तो वक्ताको बोलते समय विश्राम लेनेका अवसर सहजही में मिल जाता है। मनुष्यका फेफड़ा सदा वायुसे भरा रहता है, तौभी श्वास अधिक लेना और उच्छ्वास कम निकालना चाहिये। क्योंकि उसमें से यदि वायु कम हो जाय, तो वक्ता और श्रोताओंपर उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। इसी प्रकार दम भरे हुए मनुष्यका व्याख्यान श्रोताओंको अच्छा नहीं लगता।

स्वस्थ मनुष्य एक मिनटमें १३ से १५ बार तक श्वास ले सकता है। यदि वह बहुतही जल्दी व्याख्यान देने लगे, तो अन्तमें उसके श्वासोंकी संख्या कम पड़ जाती है। इसलिये वक्ताको अपनी श्वासेन्द्रिय अपने वशमें रखनी चाहिये, और प्रत्येक काममें फँसे रहनेपर भी उसकी गिनती बराबर रहनी चाहिये। वैद्योंका मत है कि श्वास नाकके द्वाराही लेना अच्छा है, और यही रीति व्याख्यानके बीच में निर्विघ्नतासे रुक जानेके लिये वक्ताओंके लियेभी उत्तम है। पर, व्याख्यानके समय पूर्ण विचार करके योग्य स्थान और योग्य वाक्यपर ही ठहरकर श्वास लेना चाहिये।

(८) अभ्यास।

इस सम्बन्धमें वक्ताको ऐसा करना चाहिये कि व्याख्यान देनेको खड़े होनेके पहले अच्छी तरह साँस ले लेना, सीधे खड़े रहकर मस्तक ज़रा पीछेको हटा रखना और अन्य बातों को ठीक करलेना चाहिये। ऐसा करने से व्याख्यान में ही क्या, अन्य प्रसंगों पर भी, बड़ा लाभ होता है। यह अभ्यास खुली हवा या हवादार मकान में करना अच्छा है; क्योंकि फेफड़ेकी शक्तिही इन सबका आधार है, और शुद्ध वायुसे फेफड़ा शक्तिशाली होता है।

(९) वर्णोच्चार।

जिन विद्वानोंकी भाषण-पद्धति ग्रहण करने योग्य हो उसमें से अपने कामकी बातें निकालकर अपना वर्णोच्चार शुद्ध बनाना चाहिये। यदि वक्ताके मुँहसे वर्णोच्चार अशुद्ध निकले, तो श्रोताओंमें असन्तोष फैल जाता है; इसलिये अपनी भूलको आप सुधारनेका प्रयत्न करना चाहिये।

(१०) स्पष्ट शब्दोच्चारण।

वर्णोच्चार शुद्ध हो जानेके बाद, स्पष्ट शब्द बोलने चाहिये, और इसके अभ्यासके लिये, पहले छोटे २ वाक्य स्पष्टतासे बोलनेकी टेव रखनी चाहिये। प्रत्येक शब्द जुदे जुदे समझे जाँय और उनके बीचमें रुकना न पड़े—इसके लिये शान्तिसे स्पष्ट शब्दोच्चारण करना ठीक है। शब्दोंमें स्पष्टता लाना व्यंजनोंका काम है, और ओज लाना स्वरों का। स्वरकी सहायतासे बोलना अच्छा समझा जाता है, और स्पष्ट व्यंजनोंसे शब्द सुशोभित दिखाई देने लगते हैं। इसलिये व्याख्यान देनेमें इन दोनों तत्त्वोंका मिश्रण

रखना चाहिये। जोशीले और स्पष्ट शब्दोच्चारसे युक्त भाषण श्रोताओंको प्रिय होता है। आवाज़ चाहे जैसी हो, पर यदि शब्दोच्चारण शुद्ध हो, तो वक्तव्य विषयको सब लोग समझ सकते हैं। मि० स्टीलका कहना है कि—"स्पष्ट शब्दोच्चारण करनेवाले वक्ताकी आवाज़ भलेही धीमी हो; पर उसके कहनेको सब लोग सुन और समझ सकते हैं। इसके विपरीत, अस्पष्ट तौरपर चिल्लाने वालेके कहनेको कोई नहीं समझता।" यदि नया वक्ता अपने स्पष्ट शब्दोच्चारणमें कठिनता समझे, तो पहलेसे ही उसे वे शब्द नोट करके कण्ठस्थ कर लेना चाहिये। ऐसा करनेसे उसको स्पष्ट बोलनेका खूब अभ्यास हो जाता है।

(११) शब्दोंपर ज़ोर।

मुँहसे निकाले किसी शब्दपर श्रोताओंका विशेष लक्ष दिलाना हो, तो उसपर ज़ोर देना चाहिये। इस सम्बन्धमें इन दो नियमों पर ध्यान रखना चाहिये। एक तो, योग्य शब्दों परही ज़ोर देना, और दूसरे, उचित परिमाणमें ज़ोर देना। योग्य शब्द वक्ताके भावार्थसे समझे जाते हैं। वक्ता यदि चाहे, तो अपना भावार्थ श्रोताओं को शब्दशः समझा सकता है, और उनके द्वारा उनके मन पर अलग २ प्रभाव डाल सकता है। प्रत्येक शब्दपर ज़ोर देनेकी आदत कई वक्ताओंमें होती है; पर इससे श्रोताओं पर यथोचित प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये, योग्य शब्दों परही ज़ोर देना उचित है।

इसके सिवा, जैसा भाव प्रदर्शित करना हो उसीके अनुसार ज़ोर देना चाहिये। इस सम्बन्धमें स्वभाव और

सृष्टि-नियमके अनुसार चलना ठीक होता है। शेरीडे का मत है कि- वक्ताका भाषण सब श्रोताओंको बराबर सुन पड़े, इसके लिये वक्ताको चाहिये कि वह अपने सामने वाली पंक्तिमें बैठे मनुष्यकी ओर दृष्टि रखकर बोले। ऐसा करनेसे अवधारण और सुर सहजहीमें प्रमाणके अनुसार निकलते हैं। पर, इसमें उसकी शारीरिक-सम्पत्ति और शक्ति बाहर नहीं होजानी चाहिये; और चाहे क्रोध या आवेशसे बोलना पड़े, तौभी उसकी मनोवृत्ति नहीं बिगड़नी चाहिये।

वक्ताको किस प्रसंग पर कितने ज़ोरसे बोलना चाहिये यह बात नीचे के कोष्ठकमें बताई जाती है—

ज़ोरका प्रमाण।	प्रसंग।
१ सौम्यता या स्वस्थतासे।	गुप्त विषय, सावधानता, इशारा, संशय, दया, प्रीति, दुःख, भय, कोमलता, दुःख-दर्शक भाव, विनय, लज्जा, विश्राम, और ग्लानि।
२ साधारण ऊँचे स्वरसे।	साधारण भाषण, सरल निरूपण किंवा आवेशहीन व्याख्यान।
३ ऊँचे स्वर से।	विजय, क्रोध, संताप, द्वेष, उग्रता, हास्य, आनंद, और प्रज्वलित मनोवृत्ति।

(१२) उद्गार।

अपने मनमें उत्पन्न हुए विकारोंको आवेशयुक्त वाणीसे कहनेको "उद्गार" कहते हैं। अपने मनोविकार दूसरोंको समझानेके लिये यही एक साधारण मार्ग है। जो मनोविकार बहिर्गत होवें उनमें अतिशयोक्ति बिलकुल नहीं होनी चाहिये। यदि उनमें अतिशयोक्ति होगी, तो वे चाहे सच्चे अन्तःकरणसे भी निकाले गये होंगे, श्रोताओं पर उनका कुछभी प्रभाव न पड़ सकेगा। मनोविकार सच्चे अन्तःकरणसे निकले हुए होने चाहिये। जब वक्ता ऐसे मनोविकार समाजके सामने रखता है, तब श्रोताओंको विश्वास हो जाता है कि वक्ता जो कुछ कह रहा है वह सब सत्य है और ग्रहण करने योग्य है। इनमें जो एक प्रकारकी खूबी है, उसको उचित रीतिसे साधना चाहिये। दूसरेका उत्तम बोलना सुनकर वक्ता बननेवालेके कान उत्तम संस्कार वाले होने चाहिये। अपने हृदयका आशय दूसरोंके कानोंमें डालनेसे उनके अन्तःकरणमें उसका उत्तम प्रतिबिम्ब पड़ता है या नहीं— यह वक्ताको बराबर समझना चाहिये, और यह काम सफल होना वक्ताके सुर पर अवलम्बित है। प्रत्येक मनोविकारके उद्गारोंको निकालनेके लिये जुदे जुदे सुर काममें लाने पड़ते हैं; इसलिये स्वरभेदसे उद्गार अलग किये जा सकते हैं। स्वरभेदका काम आवाज़ को बढ़ाकर जोशीला करना, और उद्गारोंका, उसे काममें लाकर मनोविकारोंसे जोड़ देना है।

उद्गार भाषणका मुख्य चिह्न है। शब्द और भाषण पहचाननेका साधन उद्गार ही है। सच्ची लगन

उच्चय करनेवाली आवाज़के साथ उद्गारोंका निकट सम्बन्ध है। आवाज़ निकालनेके पहले जैसे विचार, भावना और मनोवृत्ति होती हैं, वैसीही आवाज़ या उद्गार निकलते हैं, और उससे वैसीही श्रवणेन्द्रिय सतेज होती है। यह बात अंग-विक्षेपसे भी झलक जाती है। जिस आवाज़में शब्द बोले जाते हैं उसके अनुसार उनका अर्थ भी पलट जाता है। साधारण शब्दोंमें जो अर्थ होता है उसकी अपेक्षा आवाज़के भेदोंके साथ शब्दका उच्चारण करनेसे विशेष अर्थ निकल आता है; परन्तु उत्तमोत्तर उद्गार निकालनेके लिये प्रकृति-नियम के अनुसार चलना ठीक है।

(११) विश्राम नियम।

व्याख्यानमें विश्राम और व्याकरणमें विराम-ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं। वक्तृत्वमें जहाँ २ विश्राम लेना होता है, वहाँ २ व्याकरणमें विराम नहीं होते; और व्याकरणमें जहाँ विराम होते हैं, वहाँ व्याख्यानमें विश्राम नहीं होता। पढ़ने और बोलनेवालोंको पद पद पर विराम चिह्न मिलते हैं। वहाँ यदि आवाजको न रोका जाय, तो अर्थका अनर्थ होजाता है। कई बार ऐसा प्रसङ्ग आजाता है कि श्रोताओंका मन अपनी ओर खींचनेके लिये एकदम रुक कर बोलना पड़ता है। ऐसा करनेसे श्रोता उसके मनोभावको तुरन्त समझ लेते हैं। क्योंकि इस बातको सोचकर उनका मन सशंक हो जाता है कि वक्ताको अभी बहुत कुछ कहना है, अभीसे यह क्यों रुक गया! इस विचारसे उनकी मनोवृत्ति ऐसी उत्तेजित हो जाती है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। इन सारी बातोंसे

यही सिद्ध होता है कि वक्ताको अपने भाषणमें योग्य स्थान पर अवश्य ठहरना चाहिये।

(१४) भाषण का वेग।

वक्ताके बोलनेकी गति मंद नहीं होना चाहिये; क्योंकि इससे श्रोता ऊँघने लगते हैं। इसी प्रकार जल्दी २ बोलने से श्रोता बराबर नहीं समझते और उनकी ग्रहण-शक्तिको ह्रास होता है। अतिशय शीघ्रतासे बोलना वक्ताके मनकी स्थितिको बिगाड़ता है, जिससे उसके उच्चारण और स्वरभेद बिगड़ जाते हैं। ऐसी दशामें मध्यम गतिसे बोलना उत्तम है। पर; आदिसे अन्त तक यही गति रखना ठीक नहीं। आवश्यकतानुसार उसमें फेरफार भी करना पड़ता है। वक्ता जिस स्थानमें व्याख्यानमें देनेको खड़ा हो उसमें यदि ध्वनि-प्रतिध्वनि निकलती हो, तो बहुतही विचार और स्पष्टतासे बोलनेकी आवश्यकता है। ऐसे अवसर पर मध्यम गतिसे ही काम लेना ठीक नहीं होता।

वक्ताका भाषण बराबर चलता रहे, तो एक मिनिट में १०० या १२५, अथवा एक घंटेमें ७००० शब्द बोले जा सकते हैं। एक घंटेमें दस हज़ार शब्द बोलनेवाले वक्ता भी होते हैं। मनकी स्थितिके अनुसार शब्दोच्चारणका जो वेग होता है उसकी रीति नीचेके कोष्टकमें दी जाती है;—

वेग की गति।	प्रसंग।
बहुतही मंद	गांभीर्य, गौरव, विचार, संशय, दुःख, और स्वार्थ।

अंगकी गति।	प्रसंग।
मध्यम	क्रोध-रहित भाषण।
बहुतही शीघ्र	उल्लास, हास्य, आनंद, राग, तिरस्कार, क्रूरता, उपहास, और मनकी आवेश-भरी लगन।

(१४) अङ्ग विक्षेप।

यथोचित अङ्ग-विक्षेपसे वक्ताका भाषण विशेष सुन्दर हो जाता है। इसलिये हावभावको सभ्यता युक्त और जन-समाजके अनुकूल बनानेके लिये वक्ताको विशेष ध्यान रखना चाहिये। मि॰ एडीसनने अपने "स्पेकटेटर" में लिखा है—"अन्य देशोंकी अपेक्षा हमारे देशके वक्ता और धर्मोपदेशक बहुतही थोड़ा अभिनय करते हैं, केवल पत्थर की तरह खड़े रहना ही उन्हें पसंद है। राष्ट्रीय जीवन संशयमें हो, विषय अटपटा हो, और रूपक चाहे जैसे हों, तो भी यहाँके वक्ता केवल कह कर बता देते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये। अभिनय और अवधारण वक्ताके भावोंको उत्तम प्रकारसे दरशाते हैं,। साधारण मनुष्यों के सामने वक्ता जो बोलता है उसे प्रमाणित करनेके लिये अङ्ग-विक्षेपसे श्रोताओंमें अधिक जागृति फैल जाती है, और उससे वे व्याख्यान ध्यानपूर्वक सुननेको ललचाते हैं। आवेश-भरे अभिनय और स्वरसे कैसे भी श्रोता तल्लीन हो जाते हैं और वक्ताके प्रति उनमें पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है। अङ्ग-विक्षेपके साथ भाषण देनेका जितना प्रभाव

श्रोताओं पर पड़ता है उतना पढ़कर सुनानेका नहीं पड़ता। जिन व्याख्यानोंमें कुछ भी सार नहीं होता वेभी अङ्ग-विक्षेप से रुचिकर मालूम होने लगते हैं, और लोग उनमें लीन हो जाते हैं। ऐसी दशामें यदि उत्कृष्ट भाषण अङ्ग-विक्षेपके साथ दिया जाय, तो फिर कहना ही क्या है।"

परन्तु अङ्ग-विक्षेपकी ख़ास आदत नहीं पड़जानी चाहिये। इससे शरीरके बिगड़ जानेकी संभावना है। बहुत से लोगोंमें कई आदतें पड़जाया करती हैं। एक वकील व्याख्यान देते समय सुतलीके टुकड़े को अँगुलीमें लपेटता और खोलता जाता था। एक दिन किसी मसखरेने उस सुतलीके टुकड़ेको छिपा दिया। फिर क्या था, वकील महाशय खड़े ही रह गये-उनके मुँहसे एक भी शब्द नहीं निकल सका। इसी प्रकार सर फ्रेडरिक ठलह अपने विषय में कहते हैं कि "एक दिन मैं वेक्स्फ़र्डको आयरिश पार्लमेंट में मजिस्ट्रेटोंका गुणानुवाद कर रहा था। उस समय मैंने एक जगह कहा कि "मजिस्ट्रेटोंके पास लार्डों की सी कोई सत्ता होनी चाहिये"। इतने हीमें 'इगन' नामक एक मसखरे मनुष्यने पीछेसे मेरे कानमें कहा कि "और उनको चाबुकसे भी मारना चाहिये"। बस, ये शब्द मेरे कानमें पड़तेही मैं ज्योंकात्यों उन्हें बोल गया। ये शब्द सुनकर सारा समाज हँस पड़ा; और पीछेसे मालूम होने पर मुझे बड़ी लज्जा आई।" अभिप्राय यह है कि ऐसी आदतोंका स्वाभाविक है; पर वक्ताको इनसे बचनेके लिये सावधान रहना चाहिये। अङ्ग-विक्षेपके विषयमें नीचे लिखी बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं—

जो अङ्ग-विक्षेप करना हो उसके संबंधके शब्द मुँहसे निकलनेके कुछ पहिले वह अङ्ग-विक्षेप करना चाहिये; क्योंकि एक ही समयमें या शब्द बोलनेके बाद अङ्ग-विक्षेप करनेसे कुछ लाभ नहीं होता। एक मनुष्यका कहना है कि अङ्ग-विक्षेप शब्दोंका चोबदार है। जैसे [illegible] चोबदारोंके "पश निगाह, क़दम मुलाहिज़ा" कहने से राजाके शुभागमनका समय जाना जाता है, वैसे ही अङ्ग-विक्षेपसे वक्ताके मुँहसे निकलनेवाले उस संबंधके शब्दों की सूचना मिलनी चाहिये।

बोंचतान और अविचारसे अङ्ग-विक्षेप न करके, सरल भावसे करना चाहिये, और श्रोताओंको यह मालूम नहीं होने देना चाहिये कि ये बनावटी हैं। अङ्गविक्षेप करना यदि वक्ता पहलेसेही सीख रक्खे, तो उसका बनावटीपन प्रकट नहीं होता; पर फिर भी प्रकट न होने देनेके लिये सावधान रहना चाहिये। क्योंकि प्रकट होजानेसे श्रोता वक्ताका तिरस्कार करते हैं और उनको वह व्याख्यान अरुचिकर मालूम होता है।

दूसरी बात यह है कि घड़ी २ और पल २ में ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। बोलनेमें कोई भाग ऐसा भी आजाता है कि जिसमें कुछ भी हलचल नहीं करनी पड़ती; इसलिये वक्ताको आवश्यकतासे अधिक अङ्ग नहीं हिलाना चाहिये। कोई कोई ऐसा सोचते हैं कि व्याख्यान देते समय अङ्ग-विक्षेप करना ही चाहिये; पर उनको मि० विनलोनका नियम बराबर ध्यानमें रखना चाहिये। उनका कहना है कि "अङ्ग-विक्षेप आवश्यकतासे

अधिक नहीं करना चाहिये, नहीं तो वक्ताकी बड़ी हँसी होती है"।

१. मुखचर्या और नेत्र——सारे अवयवोंमें वक्ताकी मुखचर्या प्रधान है। उसकी प्रत्येक मनोवृत्तिका प्रतिबिम्ब उसके मुख पर झलका करता है। ऐसा एक नियम है कि जब वक्ताके मुख पर कुछ भी नहीं झलकता, तब उसका बोलना अन्तःकरण-पूर्वक नहीं माना जाता। मुखचर्या बारम्बार नहीं बदलनी चाहिये, नहीं तो श्रोताओंको वक्ताका बोलना बनावटी मालूम होता है। कोई २ वक्ता अपना निरूपण और बुद्धिवाद भलीभाँति आगे बढ़ानेके लिये तदनुसार अङ्ग-विक्षेप करते हैं—यह टेव अच्छी है। पर, ढोंगी मनुष्योंको यह अधिक पसंद आती है।

मुखचर्याके संबंधमें अभी कोई नियम निश्चित नहीं हुआ है; परन्तु वक्ताके मनमें जिस विषयकी लगन सच्चे तौर पर लगी होती है, उसीके अनुसार उसकी मुखचर्या आपसे आप होजाती है-यह एक नियमसा है। हाँ, जान बूझ कर कपालमें सल डालना, ओंठ दबाना, दूसरोंको अपने मनविकार न जानने देनेके लिये उदास वृत्ति धारण करना आदि टेवें बुरी हैं। इसलिये वक्ताको इनसे दूरही रहना चाहिये।

मनुष्यके नेत्र मनको मोहते और तिरस्कार भी बताते हैं। जब ये क्रोधसे लाल होते हैं, तो कोमलताके बदले कठोरता पैदा कर देते हैं। मतलब यह है कि मनोविकारके रूपके अनुसार इनकी भी स्थिति बदलती रहती है; इसलिये वक्ताको यह अवश्य ध्यानमें रखना

चाहिये कि वक्ताका जो कुछ सामर्थ्य या शक्ति होती है वह नेत्रोंमें समाई हुई है।

२. गर्दन, हाथ और पाँव——व्याख्यान देते समय गर्दन सीधी रखना, इसमें टेढ़ापन नहीं आने देना, एक ओर के कंधे पर उसे झुकने और संकुचित नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे मुखचर्या बिगड़ जाती है, और श्रोताओंको मालूम होने लगता है कि वक्ता भय-भीत होगया है अथवा खुशामद कर रहा है।

बोलते समय अवयवोंकी अपेक्षा वक्ताको हाथसे बड़ी सहायता मिलती है। जिस प्रकार किसी वस्तुको दिखानेके लिये वह हाथसे बताई जाती है, उसी प्रकार वचन देना, बोलना, बताना, धमकी देना, विन्ती करना, तिरस्कार या भय दिखाना आदि क्रियाएँ भी हाथ हीसे की जाती हैं। संसारके प्रत्येक काममें हाथका जितना उपयोग होता है उतना अन्य अवयवका नहीं होता। व्याख्यानके अङ्ग-विक्षेपमें दोनों हाथों या पाँवोंका एकही समयमें उपयोग करना ठीक नहीं है। पानीमें तैरनेवाला जैसे हाथ हिलाता है, वैसे बारम्बार हाथ हिलाना अच्छा नहीं समझा जाता। अपने विषय, उदाहरण, आश्चर्य, या अवसरके अनुसार वक्ताको हाथ हिलाना और इससे अपना अभिप्राय श्रोताओंको समझाना चाहिये।

कमरके नीचेके भाग और पाँवकी हलचलमें भी यही खूबी भरी हुई है। पाँवको सदा हिलाना या आगे पीछे करना अच्छा नहीं है। विशेष कर एकही पाँव पर शरीर

का बोझ ठहरा कर खड़ा रहना उत्तम है। जब किसी कार्य या अङ्ग-स्थिति बदलते समय पाँव हिलानेकी आवश्यकता पड़े, तो भारवाले पाँवको छोड़ कर दूसरा पाँव हिलाना चाहिये।

३. अङ्ग-विक्षेपके विभाग—स्मार्ट नामक प्रख्यात वक्ताने अङ्ग-विक्षेपके चार विभाग किये हैं;—

(अ)—आवेश-द्योतक, अर्थात् वक्ताके आवेशको बतानेवाला।

(आ)—लाक्षणिक, अर्थात् वर्णनको ज्योंका त्यों बताकर समझानेवाला।

(इ)—मनोधर्म-द्योतक, अर्थात् सच्ची मनोवृत्ति प्रकट करनेवाला।

(ई)—अनुकरण-द्योतक, अर्थात् दूसरेके हावभावका अनुकरण करके बतानेवाला।

इन विभागों पर वक्ताको ध्यान रखना चाहिये। यदि इनके अनुसार वक्ता चलेगा, तो उसके अङ्ग-विक्षेपका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। परन्तु इन पर चलते हुए अपने स्वाभाविक विनय और शीलताको भी नहीं भूल जाना चाहिये। केवल हावभाव होने और विनयका अभाव होनेसे मर्मज्ञ मनुष्योंको भाषण नहीं रुचता। इसी प्रकार हावभावके साथ विषयकी उत्तमता और अन्तःकरणकी सच्ची लगन भी होनी चाहिये।

(१६) वक्ता की पोशाक।

कोई कोई वक्ता उत्तमोत्तम चटकीले वस्त्रालंकारोंसे सजकर व्याख्यान देनेको आते हैं। ऐसे महाशयोंको देख

पर श्रोतागण कानाफूँसी करते हैं कि "आज आप बहुरुपि-येका स्वाँग बनाकर आये हैं"। कोई २ वक्ता अपनी हीनता और नम्रता दिखानेके लिये मलीन वस्त्र पहिनकर आते हैं; पर ऐसा वेशभी श्रोताओंका मन दूषित करता है। वक्ताको सदैव साधारण, स्वच्छ और शिष्ट समुदायमें शोभा देने वाले वस्त्र पहिनना चाहिये; क्योंकि पहिलेसे ही श्रोताओंके चित्तमें तिरस्कार उत्पन्न करना ठीक नहीं, उनके मनमें अपने प्रति पहिले पूज्य भाव उत्पन्न करना चाहिये।

का बोझ ठहरा कर खड़ा रहना उत्तम है। जब किसी कार्य या अङ्ग-स्थिति बदलते समय पाँव हिलानेकी आवश्यकता पड़े, तो भारवाले पाँवको छोड़ कर दूसरा पाँव हिलाना चाहिये।

३. अङ्ग-विक्षेपके विभाग—स्माटे नामक प्रख्यात वक्ताने अङ्ग-विक्षेपके चार विभाग किये हैं;—

(अ)—आवेश-द्योतक, अर्थात् वक्ताके आवेशको बताने-वाला।

(आ)—लाक्षणिक, अर्थात् वर्णनको ज्योंका त्यों बताकर समझानेवाला।

(इ)—मनोधर्म-द्योतक, अर्थात् सच्ची मनोवृत्ति प्रकट करनेवाला।

(ई)—अनुकरण-द्योतक, अर्थात् दूसरेके हावभावका अनु-करण करके बतानेवाला।

इन विभागों पर वक्ताको ध्यान रखना चाहिये। यदि इनके अनुसार वक्ता चलेगा, तो उसके अङ्ग-विक्षेपका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। परन्तु इन पर चलते हुए अपने स्वाभाविक विनय और शीलताको भी नहीं भूल जाना चाहिये। केवल हावभाव होने और विनयका अभाव होनेसे मर्मज्ञ मनुष्योंको भाषण नहीं रुचता। इसी प्रकार हावभावके साथ विषयकी उत्तमता और अन्तःकरणकी सच्ची लगन भी होनी चाहिये।

(१६) वक्ता की पोशाक।

कोई कोई वक्ता उत्तमोत्तम चटकीले वस्त्रालंकारोंसे सजकर व्याख्यान देनेको जाते हैं। ऐसे महाशयोंको देख

(१०) सभा-समाज।

(१) वादविवाद करनेकी सभाएँ।

वक्ताको अपनी वाक् शक्तिको बढ़ानेके लिये ऐसी सभाओंमें आनाजाना बहुतही लाभदायक है। उसमें बोलनेका सामर्थ्य कितना है, दूसरोंका मन आकर्षित करना वह कितना जानता है, और वादविवाद करनेकी उसमें कितनी शक्ति है ये बातें उसे ऐसी सभाओंमें जानेआनेसे मालूम होजाती हैं। ऐसी सभाओंका प्रेमी वक्ता अनुकूल और प्रतिकूल बातोंमें अपने उत्तम विचार प्रकट कर सकता है। प्राचीन वक्ताओंने ऐसी ही सभाओंके सेवनसे यश प्राप्त किया था।

वाद-विवाद करनेवाली सभाओंमें किस विषय पर वाद-विवाद करना-इसपर विचार करनेके पहिले यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ऐसे स्थानोंमें केवल ज्ञानप्राप्तिके लिये नहीं, बल्कि बोलने की उत्तम रीति ग्रहण करनेको जाना पड़ता है। यहाँ यदि कोई बुरी रीति मालूम हो, तो उसे कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। चलते हुए वाद-विवाद में वक्ताको जो विषय अच्छा जान पड़े और जिससे उसका उत्तम परिचय हो वही विषय उसको लेना चाहिये। डा०

वेनेयरने इस विषयमें तीन नियम निर्धारित किये हैं:—

१— वक्ताको जिस विषयका बिलकुल ज्ञान न हो ऐसा विषय न लेकर परिचित और पहिलेसे विचार किये हुए विषयको लेना चाहिये ।

२— वक्तृता देनेको खड़े होनेके बाद, केवल वाक्-पांडित्यसे ही नहीं, बल्कि उत्तम विचारोंसे पूर्ण और श्रोताओं को मोहित करनेवाले भाषणोंसे लोगोंको प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

३— दूसरे नियमको साधनेके लिये जो बातें अच्छी मालूम हों उनको ग्रहण करना और उन्हींके अनुसार चलना चाहिये । ऐसा करनेसे भाषणशैली प्रौढ़, शुद्ध और मनोरंजक हुए बिना नहीं रहती ।

(२) वाद-विवाद करने की सभाओंके नियम ।

इन सभाओंमें साधारण कामकाजकी व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिये:—

१-सबसे पहिले मंगलाचरण हो, फिर मंत्री सभाके निश्चित कामोंका क्रम पढ़कर सुनावे और गत सभाके कार्यका संक्षिप्त वर्णन भी बतावे । निश्चित कामोंमें कोई वाद-विवाद करनेको खड़ा हो, तो सभापति उसे बोलनेकी आज्ञा दे । उस मनुष्यके या उसके पक्षवालोंके बोलनेके बाद, सभाका कोई सभासद बोलना चाहे, तो वह अवश्य बोले । जब सभा-समाप्तिका समय समीप आजाये और विवादास्पद विषय आरंभ करनेवाला प्रत्युत्तर देना चाहे, तो सभापतिकी आज्ञा लेकर प्रत्युत्तर देनेको खड़ा हो, और

निष्पक्षपातसे, बड़ी ही योग्यताके साथ, विषयका उचित प्रत्युत्तर दे। इसके बाद प्रस्ताव पास कराना हो, तो उसके संबंधी प्रश्न सभाके सन्मुख रक्खे जायँ और उसपर सभासदों की लिखी सम्मति ली जाय। यदि उसपर बहुमत हो, तो प्रस्ताव स्वीकृत कर दिया जाय।

२-बीचमें किसी भी मनुष्यको बोलनेकी आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये। केवल विषयका आरंभ करनेवाला ही यदि अपने विषयका पुनः स्पष्टीकरण करना चाहे, तो उसे आज्ञा मिले; या पश्चात् कोई सभापतिकी आज्ञा लेकर उसका प्रत्युत्तर देनेको खड़ा होना चाहे, तो उसे आज्ञा मिलनी चाहिये। यदि कोई बीचमें खड़ा होजाय, तो प्रबंधकोंको चाहिये कि उसे समझाबुझा कर बैठा दें।

३-किसी भी प्रतिष्ठित मनुष्यको अपनी जगह पर बैठे बैठे व्याख्यान देनेकी आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये, और न उस अकेले को राय ही मानना चाहिये। दोनों मतोंकी संख्या जब एकसी हो, तब उस प्रतिष्ठित व्यक्तिको अपना भी मत (Casting vote) दे देना चाहिये।

४-गत सभामें कोई विषय ऐसा रक्खा गया हो जिसपर इस सभामें वाद-विवाद करना हो, तो उस पर बोलनेवालों को आज्ञा देनी चाहिये, और फिर भी कोई विषय अगली सभा पर रक्खा जाय, तो उसकी सूचना सबको देनी चाहिये।

५-सब कामोंका समय और कार्य-क्रम पहलेसे ही निश्चित [illegible]ा चाहिए। कोई २ व्याख्यानदाता या सभासद विषय [illegible]भ करनेमें ही अपना निश्चित समय खोदेते हैं, और

फिर बहुत देर तक होना करते हैं । ऐसा नहीं होना चाहिये। समय और आवश्यकताके अनुसार मंत्री और सभापतिको नये नियम बना लेना चाहिये ।

(३) अन्य प्रकार की सभाएँ।

ऐसी सभाओंमें प्रायः इनका समावेश होता है :—

(१) राजसभा (The King's Court), दरीखाना, बैठक आदि, जहाँ राज्य-व्यवस्था-संबंधी विचार किया जाता है।

(२) न्यायसभा, या कौंसिल (Court of justice) जहाँ न्याय-अन्यायका निपटारा होता है ।

(३) धर्म-सभा, अर्थात् धर्मका प्रचार करनेवाली सभा।

(४) साहित्य-सभा, अर्थात् साहित्यके उत्तमोत्तम ग्रन्थों को प्रकाशित कर उनका प्रचार और साहित्यकी पुष्टि करनेवाली सभा।

(५) सामाजिक अथवा साधारण सभा, जिसमें कई जातियोंके लोग भेद-भावको छोड़कर बैठें और देशोन्नतिके उपाय सोचें।

(४) सभाओंके नियम।

सबसे पहले सभाका नाम, उद्देश और कार्यालय-स्थान निश्चित होना चाहिये । पीछे कार्यकर्ताओंकी नियुक्ति होनी चाहिए।

सभाका सारा काम एक प्रबन्ध-कारिणी समितिके द्वारा चलाया जाता है, और उसीके अधीन तथा उसकी

निष्पक्षपातसे, बड़ी ही योग्यताके साथ, विषयका उचित प्रत्युत्तर दे। इसके बाद प्रस्ताव पास कराना हो, तो उसके संबंधी प्रश्न सभाके सन्मुख रक्खे जायँ और उसपर सभासदों की लिखी सम्मति ली जाय। यदि उसपर बहुमत हो, तो प्रस्ताव स्वीकृत कर दिया जाय।

२-बीचमें किसी भी मनुष्यको बोलनेकी आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये। केवल विषयका आरंभ करनेवाला ही यदि अपने विषयका पुनः स्पष्टीकरण करना चाहे, तो उसे आज्ञा मिले; या पश्चात् कोई सभापतिकी आज्ञा लेकर उसका प्रत्युत्तर देनेको खड़ा होना चाहे, तो उसे आज्ञा मिलनी चाहिये। यदि कोई बीचमें खड़ा होजाय, तो प्रबंधकोंको चाहिये कि उसे समझाबुझा कर बैठा दें।

३-किसी भी प्रतिष्ठित मनुष्यको अपनी जगह पर बैठे बैठे व्याख्यान देनेकी आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये, और न उस अकेले की राय ही मानना चाहिये। दोनों मतोंकी संख्या जब एकसी हो, तब उस प्रतिष्ठित व्यक्तिको अपना भी मत (Casting vote) दे देना चाहिये।

४-गत सभामें कोई विषय ऐसा रक्खा गया हो जिसपर इस सभामें वाद-विवाद करना हो, तो उस पर बोलनेवालों को आज्ञा देनी चाहिये, और फिर भी कोई विषय अगली सभा पर रक्खा जाय, तो उसकी सूचना सबको देनी चाहिये।

५-सब कामोंका समय और कार्य-क्रम पहलेसेही निश्चित होजाना चाहिए। कोई २ व्याख्यानदाता या सभासद विषय का आरंभ करनेमें ही अपना निश्चित समय,

फिर बहुत देर तक बोला करते हैं । ऐसा नहीं होना चाहिये। समय और आवश्यकताके अनुसार मंत्री और सभापतिको नये नियम बना लेना चाहिये ।

(३) अन्य प्रकार की सभाएँ।

ऐसी सभाओंमें प्रायः इनका समावेश होता है :—

(१) राजसभा (The King's Court), दरीखाना, बैठक आदि, जहाँ राज्य-व्यवस्था-संबंधी विचार किया जाता है।

(२) न्यायसभा, या कौंसिल (Court of justice) जहाँ न्याय-अन्यायका निपटारा होता है ।

(३) धर्म-सभा, अर्थात् धर्मका प्रचार करनेवाली सभा।

(४) साहित्य-सभा, अर्थात् साहित्यके उत्तमोत्तम ग्रन्थों को प्रकाशित कर उनका प्रचार और साहित्यकी पुष्टि करनेवाली सभा।

(५) सामाजिक अथवा साधारण सभा, जिसमें कई जातियोंके लोग भेद-भावको छोड़कर बैठें और देशोन्नतिके उपाय सोचें।

(४) सभाओंके नियम।

सबसे पहले सभाका नाम, उद्देश और कार्यालय-स्थान निश्चित होना चाहिये । पीछे कार्यकर्ताओंकी नियुक्ति होनी चाहिए।

सभाका सारा काम एक प्रबन्ध-कारिणी समितिके द्वारा चलाया जाता है, और इसीके अधीन सदा इसकी

देखरेखमें होता रहता है। इस समितिमें सभासदों की संख्या आवश्यकतानुसार रखली जाती है। इस समिति का चुनाव प्रतिवर्ष यहां सभा में हुआ करता है। समिति का कर्तव्य है कि वह महासभाके उद्देश्योंको कार्यरूपमें परिणत करानेका उद्योग करती रहे, और उसके सब कामों का यथोचित प्रबन्ध करे। इस समितिमें निम्नलिखित कार्य-कर्त्ता होते हैं, जिनके नाम समिति अपने सभासदोंमें से चुन सकती है।

(५) प्रबन्धकारिणी समितिके कार्य-कर्त्ता।

सभापति	...	...	१
उपसभापति	...	...	१
मंत्री	...	...	१
उपमंत्री	...	...	१
कोषाध्यक्ष	...	...	१
आय-व्यय-निरीक्षक	...		२

(६) कार्यकर्त्ताओं के काम और अधिकार।

जैसे राजा के बिना राजप्रबन्ध नहीं चलसकता औ प्रजा सुखचैनसे नहीं रहसकती, वैसेही सभापतिके बि सभा नियमित रूपसे नहीं चल सकती; इसलिये पहले सभ पतिका निर्वाचन होना अति आवश्यक है।

१. सभापति—सभापतिको विद्वान्, अनुभवी, बुद्धिमा दूरदर्शी, न्यायी, सत्यवक्ता, पक्षपात-रहित और प्रभाव शाली होना चाहिये। उसीकी आज्ञाके अनुसार सभाव

कार्य सम्पन्न होता है । सभापतिको सभाका समस्त अधिकार होता है। उसके आज्ञानुसार सभासदों, कर्मचारियों आदि को चलना पड़ता है । सभापति सभाका स्वामी है, राजा है। सभाका सब दारोमदार उसीपर रहता है । यदि कार्यकी अधिकता हो, तो एक या अधिक उपसभापति भी रखे जा सकते हैं। उपसभापति को भी उपरोक्त गुणोंसे युक्त होना चाहिये । उपसभापतिका काम सभापतिकी अनुपस्थिति में काम करना और उसको सहायता देना है ।

२. मंत्री—मंत्रीको उद्योगी, अनुभवी और विद्वान् होना चाहिये। सभाके काममें सभापतिको उचित परामर्श देना और सभाका काम सुचारु रूपसे चलाना मंत्रीका कर्तव्य है । यदि आवश्यकता समझी जाय, तो उपमंत्री भी नियत कर लिया जाय । सभाकी सब कार्यवाहीको लिखना और पत्र-व्यवहार करना मंत्री और उपमंत्रीका काम है ।

३. उपमंत्री—सभापति, उपसभापति और मंत्रीके काममें सहायता देना उपमंत्रीका पहिला कर्तव्य है । उपमंत्रीको परिश्रमी, मृदुभाषी, और लिखने-पढ़नेमें होशियार होना चाहिए। प्रबन्ध-कारिणी समितिके निर्णयानुसार सभा का सब काम करना और कराना दोनों मंत्रियोंका मुख्य काम है ।

४. कोषाध्यक्ष-सभाकी आमदनीको सुरक्षित रखनेके लिये कोषाध्यक्षकी आवश्यकता है। कोषाध्यक्षको ईमानदार, निर्लोभी और मितव्ययी होना चाहिये, अ — मंत्री

की आज्ञासे ख़र्च करना चाहिये । सभाकी रकमसे ब्याज उपजाना भी उसीका काम है ।

५. क्लर्क—आय-व्ययका हिसाब लिखने और पत्र-व्यवहार करनेके लिये क्लर्ककी आवश्यकता है। क्लर्कको विद्वान्, परिश्रमी, शीघ्र-लेखक, हिसाबी और होशियार होना चाहिये। सभापति और मंत्रीके आज्ञानुसार उसे लिखापढ़ी करनी चाहिये।

६. निरीक्षक—आय-व्ययका हिसाब जाँचने और कार्यकर्त्ताओंके,प्रबन्धकी सँभाल रखनेके लिये निरीक्षककी ज़रूरत है। निरीक्षकको चतुर, पक्षपात-रहित, स्व-कर्त्तव्य-प्रेमी और विद्वान् होना चाहिये। हिसाबमें कुछ भूल पड़े, तो निरीक्षकको मंत्रीके पास रिपोर्ट करनी चाहिये और मंत्री उसपर एक सप्ताह तक ध्यान न दे, तो सभापतिके पास या अगली सभामें वह मामला उपस्थित करना चाहिये।

७. मैनेजर—जब अधिवेशन हो, तब बिछायत, रोशनी आदिका प्रबंध और आगत महाशयोंका सत्कार करने के लिये मैनेजरकी आवश्यकता है। मैनेजर आवश्यकतानुसार एक, दो या तीन होसकते हैं। मैनेजरको भलामानुष, सदाचारी, विनयी, मृदुभाषी और परिश्रमी होना चाहिये। सभा में गड़बड़ न होने देनेका काम भी इन्हीं लोगोंका है। बड़ी २ सभाओंमें स्वयंसेवक भी इस कामको करते हैं । स्वयंसेवकों को भी उपरोक्त गुणोंसे युक्त होना चाहिये ।

(७) सभासद।

सभाके नियम और उद्देशके अनुसार सभासद बनाये

इन नियमोंमें परिवर्त्तन करनेका अधिकार महासभ
ा होता है। ऐसे प्रस्ताव प्रबन्धकारिणी समिति
भामें पेश करती है; और सभासे स्वीकृत होजानेके
नियमोंमें फेरफार किया जाता है।